महेश्वर योग

(श्वेताश्वतरोपनिषत् और प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के आधार पर)

MAHESHWARA YOGA

(On the basis of Shvetashvataropanishat & Pratyabhijnahridayam)

UNIVERSITY OF JAMMU

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय की एम.फिल्. उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत लघु शोधप्रबन्ध

निर्देशक :
डॉ. जगीर सिंह
एम.ए., एम.फिल्., पी.एच.डी.
रीडर,
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू (जे. एण्ड के.)

शोध छात्रा :
सुजाता मंगोत्रा

जुलाई, 2003

II

...म.फिल्.

...घु शोधप्रबन्ध

Forwarded

24/07/03

...ह

...म.फिल्., पी.एच.डी.

...,

...स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू (जे. एण्ड के.)

शोध छात्रा :
सुजाता मंगोत्रा

जुलाई, 2003

महेश्वर योग

(श्वेताश्वत्तरोपनिषत् और प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के आधार पर)

MAHESHWARA YOGA

(On the basis of Shvetashvataropanishat & Pratyabhijnahridayam)

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय की एम.फिल्. उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत लघु शोधप्रबन्ध

निर्देशक :

डॉ. जगीर सिंह

एम.ए., एम.फिल्., पी.एच.डी.

रीडर,

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,

जम्मू विश्वविद्यालय,

जम्मू (जे. एण्ड के.)

शोध छात्रा :

सुजाता मंगोत्रा

जुलाई, 2003

Certificate

It is to certify that **Miss Sujata Mangotra** has worked under my supervision and guidance on the topic entitled "Maheshwara Yoga" (on the basis of Shvetashvataropanishat and Pratyabhijnahridayam) for the degree of M.Phil. (Sanskrit) University of Jammu.

It is further certified that :–

1. This dissertation is the original research work of the candidate herself.
2. The candidate has worked exactly in accordance for the time period, prescribed by the statute of Jammu University.
3. The topic has been duly approved by the M.Phil. (Sanskrit) committee of the P.G. Deptt. of Sanskrit, Jammu University, Jammu.
4. The candidate has put her attendance and attended the seminars etc. in the Sanskrit Department under rule.
5. The work and conduct of the candidate remained satisfactory during her research work.

July 24, 2k3.

Supervisor :

Dr. Jagir Singh (Reader)
M.A., M.Phil., Ph.D.
P.G. Deptt. of Sanskrit
Jammu University,
Jammu.

संकेत-सूची

संकेत		ग्रन्थ का नाम
अ० प्र० सि०	—	अजडप्रभातृसिद्धि
अथ० वे०	—	अथर्ववेद
अभि० शा०	—	अभिज्ञान शाकुन्तम्
अभि० मा०	—	अभिधावृत्तिमातृका
अमन० यो०	—	अमनस्क योग
अम० को०	—	अमर कोष
आ० वि०	—	आत्मविलास
ई० प्र० का०	—	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका
ई० उप०	—	ईशावास्योपनिषद्
उ० रा० च०	—	उत्तररामचरित
ऋ० सू० स०	—	ऋक्सूक्तसंग्रह
ऋ० वे०	—	ऋग्वेद
ऐत० उप०	—	ऐतरेय उपनिषद्
कठ० उप०	—	कठोपनिषद्
केन० उप०	—	केनोपनिषद्
च० सं०	—	चरक संहिता
छां० उप०	—	छान्दोग्योपनिषद्
तै० उप०	—	तैत्तिरीय उपनिषद्
त्रि० उप०	—	त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्
तं० आ० आह०	—	तन्त्रालोक आह्निक
तं० सा०	—	तन्त्रसार

संकेत		ग्रन्थ का नाम
द० स्मृ०	—	दक्षस्मृति
दु० स०	—	दुर्गासप्तशती
नृ० उप०	—	नृसिंहोपनिषद्
प० सा० का०	—	परमार्थसार कारिका
परा० त्रिं०	—	परात्रिंशिका
परा० प्रा०	—	पराप्रावेशिका
पा० टि०	—	पादटिप्पणी
पा० यो० सू०	—	पातञ्जलयोग सूत्र
प्र० हृ०	—	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
प्र० उप०	—	प्रश्नोपनिषद्
ब्र० वि० उप०	—	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्र० सू० शां० भा०	—	ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य
बृ० उप०	—	बृहदारण्यकोपनिषद्
भ० गी०	—	भगवद् गीता
भा० पु०	—	भागवद् पुराण
भ० द० ब० उपा०	—	भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय
मा० वि० उ० तं०	—	मालिनीविजयउत्तरतन्त्रम्
मा० वि० वा०	—	मालिनीविजयवार्तिकम्
रघु०	—	रघुवंशम्
वा० सं०	—	वाजसनेयी संहिता
वे० सा०	—	वेदान्तसार
वि० भै० वि०	—	विज्ञानभैरवविवृत्ति

संकेत		ग्रन्थ का नाम
श्वे० उप०	—	श्वेताश्वतरोपनिषद्
श्वे० उप० दी०	—	श्वेताश्वतरोपनिषद् दीपिका
शत० ब्रा०	—	शतपथ ब्राह्मण
श० ति०	—	शारदा तिलक
शि० दृ०	—	शिव दृष्टि
शि० स्तो०	—	शिवस्तोत्रावली
शि० सू० वि०	—	शिवसूत्र विमर्शिनी
शं० स्मृ०	—	शंख स्मृति
स्त० चि०	—	स्तोत्र चिन्तामणि
स्प० का०	—	स्पन्दकारिका
स्प० नि०	—	स्पन्दनिर्णय
स्व० तं०	—	स्वच्छन्दतन्त्रम्
सर्व० सं०	—	सर्वदर्शन संग्रह
सां० का० गौ० पा० भा०	—	सांख्य कारिका गौड़ पाद भाष्य
सौ० ल०	—	सौन्दर्यलहरी
हा० स्मृ०	—	हारीत स्मृति

प्राक्कथन

मेरा जन्म धार्मिक विचारधारा रखने वाले परिवार में होने एवं माता-पिता की अभिरुचि देववाणी संस्कृत में होने के कारण मेरी भी अभिरुचि देववाणी संस्कृत में हुई।

मैंने भद्रवाह महाविद्यालय से स्नातक उपाधि प्राप्त की। स्नातक कक्षा में प्रवेश करते समय पूर्व में विज्ञान की छात्रा होने के कारण मुझे संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान नहीं था, बस थोड़ी सी मन में इच्छा हुई कि मैं एक विषय संस्कृत का भी लूँ, अतः मैंने अन्य विषयों के साथ संस्कृत को चुना।

तदोपरान्त उच्चशिक्षा हेतु जम्मू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग में प्रवेश किया और प्रथम श्रेणी में संस्कृत स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त अनुसन्धान कार्य करने की अभिलाषा से मैंने एम.फिल्. में प्रवेश लिया। जब मैंने इस विभाग में प्रवेश लिया तो हमारे विभाग में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक डॉ. जगीर सिंह जी के स्वभाव से मैं तभी से अत्यधिक प्रभावित रही हूँ। मैंने अपने निर्देशक डॉ. जगीर सिंह को पहले से ही अवगत करवा दिया कि मैं 'योग दर्शन' पर शोध करना चाहती हूँ तो मेरी रुचि को देखकर उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। उनके परमार्श और उनके सुझाव और प्रेरणापूर्वक शब्दों से 'महेश्वर योग-श्वेताश्वतरोपनिषद् और प्रत्यभिज्ञा के आधार पर' लघु शोध प्रबन्ध का विषय चयन किया। इस लघु शोध प्रबन्ध को मैंने पाँच अध्यायों में विभाजित किया है :-

'उपनिषदों एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् का सामान्य परिचय' नामक प्रथम अध्याय में

मैंने उपनिषदों की संख्या एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् का विस्तृत रूप में वर्णन किया है।

'योग की अवधारणा' नामक द्वितीय अध्याय में योग का अभिप्राय, महत्ता और अंगों का वर्णन किया है। वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों, महाकाव्यों एवं पुराणों आदि में योग की अवधारणा प्रस्तुत की है।

'श्वेताश्वतरोपनिषद् के परिपेक्ष्य में जीव-ब्रह्म एवं योगोपलब्धि' नामक तृतीय अध्याय में जीव-ब्रह्म एवं योगोपलब्धि का विस्तार रूप से वर्णन किया है।

'क्षेमराज का जीवन परिचय एवं कृतियाँ' नामक चतुर्थ अध्याय में क्षेमराज का जीवन परिचय एवं इनकी कृतियों के विषय में विवेचन किया है।

'प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के अनुसार चित्ति, जीव एवं योग' नामक पंचम अध्याय में मैंने चित्ति, जीव एवं योग सम्बन्धी जानकारी दी है।

सर्वप्रथम उस जगत् परमपिता परमात्मा को मेरा कोटि-कोटि प्रणाम जिनकी असीम कृपादृष्टि रहने से मेरा यह लघु शोध-प्रबन्ध सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ।

इस लघु शोधकार्य को पूर्ण करने का प्रमुख श्रेय महानुभाव डॉ. जगीर सिंह जी को जाता है जो समय-समय पर इस शोध कार्य को पूर्ण करने में मेरे सहायक हुए तथा ज्ञानपूर्ण निर्देशन तथा मृदुल व्यवहार से शोधकार्य में आने वाली कठिनाईयों को दूर किया तथा मुझे प्रेरणा देकर इस शोध-कार्य को चरम-सीमा तक पहुँचाने में मेरी सहायता की।

मैं अपने विभाग की अध्यक्षा डॉ. रमणिका जलाली तथा अन्य प्राध्यापकों विशेषतया

डॉ. राम बहादुर शुक्ल जी का हार्दिक धन्यवाद करती हूँ जिन्होंने मेरा सम्पूर्ण सहयोग दिया इसलिए मैं इनकी आभारी हूँ।

संस्कृत विभाग के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री बड़ियाल जी तथा जतिन शर्मा का भी धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने मुझे सामग्री – संकलन में सहायता की है।

मैं रघुनाथ पुस्तकालय के अध्यक्ष डॉ. धनीराम शास्त्री एवं बलदेव राज का भी धन्यवाद करती हूँ जिन्होंने मुझे अपने पुस्तकालय से सामग्री संकलन में सहायता की है।

मैं अपने माता – पिता तथा भाईयों के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिनके आशीर्वाद तथा प्रेम से ही मेरा एम.फिल्. का शोधकार्य सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ। मेरे माता – पिता ने सदैव मुझे प्रोत्साहित किया तथा अनुदान सहायता भी की।

मैं संगणक (कम्प्यूटर) लिपिक **कोहली** जे.के. का भी धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने उचित समय पर मेरे शोध कार्य को लिपिटंकित किया।

अन्त में पुनः मैं विशेषकर उस ईश्वर को कोटि – कोटि प्रणाम करती हूँ और उनकी बहुत आभारी हूँ जिनकी कृपा से मैं आज इस शोध कार्य को समाप्त कर रही हूँ।

सुजाता मंगोत्रा

शोधछात्रा

तिथि : 24 July 2003

सुजाता मंगोत्रा

प्रथम अध्याय

उपनिषदों एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् का सामान्य परिचय

(क) उपनिषदों से तात्पर्य

(ख) उपनिषदों की संख्या

(ग) श्वेताश्वतरोपनिषद् का नामकरण

(घ) श्वेताश्वतरोपनिषद् का रचनाकाल

(ङ) श्वेताश्वतरोपनिषद् का सामान्य परिचय

उपनिषद् से तात्पर्य

वैदिक शिक्षाओं का साररूप उपनिषदें मानी जाती हैं। इनकी नींव के ऊपर ही बहुत से भारतीय अर्वाचीन दर्शनशाखाओं और धार्मिक सम्प्रदायों के भवन खड़े हैं। उपनिषद् वस्तुत: वह आध्यात्मिक ज्ञान का मानसरोवर है, जिससे ज्ञान की भिन्न-भिन्न नदियाँ निकलकर इस पुण्य स्थल में मानवमात्र के कल्याण और मंगल की कामना से बहती हैं।

उपनिषदों में आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध पर विचार किया गया है कि आत्मा परमात्मा का अंश है, जैसे – अग्नि-कण अग्नि के अंश हैं। उपनिषदों के ऋषियों ने सबसे पहली बार समस्त ब्रह्माण्ड तथा इसमें निवास करने वाले असंख्य जीव-जन्तुओं पर व्यापक रूप से विचार करना प्रारम्भ किया। उपनिषदीय ऋषियों द्वारा निकाले गए निष्कर्ष आज तक अकाट्य हैं। उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक महत्त्व है।

उपनिषदों का आदर्शवाद आज भी मानव के मस्तिष्क को प्रेरणा देने में उतना ही समर्थ है, जितना कि प्राचीन समय में था। यह समस्त दर्शनों का मूलग्रन्थ है और जैन और बौद्ध दर्शनों की आधारशिला भी है। इनके अध्ययन से भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सच्चा परिचय हमें मिलता है। भारतीय संस्कृति से इसका अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

उपनिषद् से तात्पर्य :–

आत्मा - परमात्मा के ज्ञान - विषयक मुख्य रूप से प्रतिपादित शास्त्र 'उपनिषद्' कहे जाते हैं। "उपनिषद्" शब्द विषयक विभिन्न मत इस प्रकार माने जाते हैं :- –

व्याकरणपरक मत :–

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक षद्लृ 'सद्' धातु से क्विप् प्रत्यय का योग करने से निष्पन्न होती है। षद्लृ धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है – 1. विशरण या शिथिल करना, 2. गति अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना, 3. अवसादन अर्थात् नाश करना।

उपनिषद् शब्द स्त्रीलिंग है – उप और निषद् के मेल से बना है। 'उप' का अर्थ समीप अर्थात् निकट है और 'निषद्' का अर्थ बैठनेवाला है। इस तरह जो परम तत्त्व (ब्रह्म) के समीप पहुँचाकर बैठनेवाला ज्ञान है, उसे उपनिषद् कहते हैं। 'समीप पहुँचाने' का अर्थ है ब्रह्म में विलीन करना और 'बैठनेवाला' का अभिप्राय है सदा स्थिर रहने वाला। तात्पर्य यह है कि आत्मा को ब्रह्म - रूप से प्रतिष्ठित करने वाले स्थिर ज्ञान को 'उपनिषद्' कहा जाता है।

वेदपरक मत :–

वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त अथवा उपनिषद् कहा जाता हैं। 'रहस्य' भी उपनिषद् शब्द का पर्यायवाची शब्द है क्योंकि उपनिषदों में 'इति रहस्यम्' और 'इति

गुह्यम्' शब्द अनेक स्थलों पर मिलता है वस्तुतः उपनिषदों में ब्रह्म, जीव और जगत् आदि का वर्णन नितान्त रहस्यमय है। उपनिषदों का प्रमुख विषय ब्रह्म का वर्णन करना है। इसलिए इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' भी है। 'ब्रह्मविद्या' ही उपनिषद् का मुख्यार्थ है। उपनिषद् का अर्थ विद्या भी है, वह विद्या जो ब्रह्म के समीप ले जाने वाली है।

वेदान्तपरक अर्थ :-

वेद शब्द विद् (ज्ञान) धातु से निष्पन्न होने वाले 'ज्ञान' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेद चार हैं – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद और प्रत्येक वेद के चार-चार भाग हैं – मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त या उपनिषद् कहा गया है। वेदों का यह भाग ज्ञानपरक है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों से सम्बन्धित अर्थात् केवल वेदों की कर्मकाण्ड सम्बन्धी व्याख्या उपलब्ध होती है। उपनिषदों में ऋषियों ने ज्ञानकाण्ड को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने चिन्तन-मनन और अपनी प्रतिभा के बल पर आत्मसाक्षात्कार किया है।

बृहद् वैदिक साहित्य में आरण्यक ग्रन्थों के पश्चात् उपनिषद् ग्रन्थों का क्रम आता है उपनिषद् ग्रन्थों में आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्रधानता होने के कारण उनको आत्मविद्या, मोक्षविद्या और ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है।

दार्शनिक मत :–

दार्शनिक मत के अनुसार उप+वास और उप+निषद् का एक ही अध्यात्मपरक अर्थ निकलता है। उपनिषदें आत्मा अथवा परमात्मा के समीप बैठाने अर्थात् ज्ञान कराने का माध्यम है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि प्राय: अज्ञानी जीव अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करते। इसलिए संसार चक्र में पड़े रहते हैं। अत: मोक्ष अथवा परमानन्द प्राप्ति के लिए आत्मा के समीप (उप) बैठना (निषद्) चाहिए।

'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु के पहले 'उप' और 'नि' ये दो उपसर्ग और अन्त में 'क्विप्' प्रत्यय लगाने से उपनिषद् शब्द बनता है।

जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सके वह उपनिषद् कहलाती है।[1] उपनिषदों में ब्रह्म ज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या का ही प्रधानता से विवेचन तथा वर्णन किया हुआ है, जिससे उपनिषद् को 'अध्यात्मविद्या' भी कहते हैं। ब्रह्म के प्रतिपादक वेद के शिरोभाग अथवा अन्त में होने से ये 'वेदान्त' या 'उत्तरमीमांसा' भी कही जाती है। ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान और ब्रह्मविद्या – ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। वेद के अङ्गभूत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक में से ही ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक भागों को पृथक् कर उनको 'उपनिषद्' नाम दिया गया है। अमरकोषकारों के अनुसार 'उपनिषद्' शब्द गूढ़ धर्म एवं रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होना है।[2]

---

1. 'उपनिषद्यते – प्राप्यते ब्रह्मात्मभावोऽनया इति उपनिषद्।'
2. 'धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्'।

उपनिषदों की संख्या

उपनिषदों की बड़ी महिमा है। वैदिक वाङ्मय का शीर्षस्थान उपनिषद् है – इस कथनमात्र से ही उपनिषदों की लोकोत्तर महत्ता स्पष्ट हो जाती है। प्राचीनकाल में औपनिषद् ज्ञान का बड़ा महत्त्व था। ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी ही इस विद्या में पारंगत होते थे। वैदिक काल से ही उपनिषदों के स्वाध्याय की परम्परा प्रचलित हुई है। अतः कुछ उपनिषद् तो वेद के ही अंश विशेष हैं। कुछ ब्राह्मभाग और आरण्यकों के अन्तर्गत हैं। कुछ इनकी अपेक्षा अर्वाचीन होने पर भी आज से बहुत प्राचीन काल के हैं। उपनिषद्-ग्रन्थ प्राचीन हों या अर्वाचीन – सभी ज्ञानप्रधान हैं। सबका आविर्भाव किसी-न-किसी गूढ़ तत्त्व या रहस्य का प्रकाशन करने के लिए ही हुआ है। अतः इनके स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि ही होती है। मुक्तिकोपनिषद् में एक सौ आठ उपनिषदों के नाम आते हैं। इसके अतिरिक्त मद्रास 'अडियार लाइब्रेरी' से भी उपनिषदों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है, जो अनेक भागों में विभक्त है। उसमें लगभग 279 उपनिषदों का प्रकाशन हो गया है। इस पर सब पर दृष्टिपात करने से यह निश्चित होता है कि अब तक लगभग 220 उपनिषदें प्रकाश में आ चुकी हैं, और भी प्रकाशित हुई होंगी तथा कितनी ही अब भी अप्रकाशित रूप में उपलब्ध हो सकती हैं। प्राचीन काल से ही अद्वितीय ज्ञान-विज्ञानशाली भारतवर्ष में ज्ञान-विज्ञान की अपरिमित ग्रन्थराशि का होना आश्चर्य

की बात नहीं है। भारत पर एक-एक करके अनेक बार विदेशी दस्युओं के आक्रमण हुए और अनेक द्वारा हमारी प्राचीन हस्तलिखित कितनी ही पुस्तकों तथा पुस्तकालयों को भस्मावशेष कर दिया गया। इतने पर भी जो कुछ शेष है, उसका भी यदि भारतीय जन आदरपूर्वक अनुशीलन करें तो पूर्वजों की ज्ञान-ज्योति अब भी इस देश में प्रकाशित हो सकती है। यहाँ 220 उपनिषदों की नामावली अकारादि क्रम से दी जा रही है :-

1. अक्षमालोपनिषद्
2. अक्षि-उपनिषद्
3. अथर्वशिखोपनिषद्
4. अथर्वशिर उपनिषद्
5. अद्वयतारकोपनिषद्
6. अद्वैतोपनिषद्
7. अद्वैतभावनोपनिषद्
8. अध्यात्मोपनिषद्
9. अनुभवसारोपनिषद्
10. अन्नपूर्णोपनिषद्
11. अमनस्कोपनिषद्

12. अमृतनादोपनिषद्

13. अमृतबिन्दूपनिषद् (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्)

14. अरुणोपनिषद्

15. अल्लोपनिषद्

16. अवधूतोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)

17. अवधूतोपनिषद् (पद्यात्मक)

18. अव्यक्तोपनिषद्

19. आचमनोपनिषद्

20. आत्मपूजोपनिषद्

21. आत्मप्रबोधोपनिषद् (आत्मबोधोपनिषद्)

22. आत्मोपनिषद् (वाक्यात्मक)

23. आत्मोपनिषद् (पद्यात्मक)

24. आथर्वणद्वितीयोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)

25. आयुर्वेदोपनिषद्

26. आरुणिकोपनिषद् (आरुणेय्युपनिषद्)

27. आर्षेयोपनिषद्

28. आश्रमोपनिषद्

29. इतिहासोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)

30. ईशावास्योपनिषद् उपनिषस्तुति (शिवरहस्यान्तर्गत, अभी तक अनुपलब्ध)

31. ऊर्ध्वपुण्डोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)

32. एकाक्षरोपनिषद्

33. ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)

34. ऐतरेयोपनिषद् (खण्डात्मक)

35. ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)

36. कठरुद्रोपनिषद् (कण्डोपनिषद्)

37. कठोपनिषद्

38. कठश्रुत्युपनिषद्

39. कलिसंतरणोपनिषद् (हरिनामोपनिषद्)

40. कात्यायनोपनिषद्

41. कामराजकीलितोद्धारोपनिषद्

42. कालाग्निरुद्रोपनिषद्

43. कालिकोपनिषद्

44. कालीमेधादीक्षितोपनिषद्

45. कुण्डिकोपनिषद्

46. कृष्णोपनिषद्

47. केनोपनिषद्

48. कैवल्योपनिषद्

49. कौलोपनिषद्

50. कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्

51. क्षुरिकोपनिषद्

52. गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्

53. गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् (वरदपूर्वतापिन्युपनिषद्)

54. गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद् (वरदोत्तरतापिन्युपनिषद्)

55. गर्भोपनिषद्

56. गान्धर्वोपनिषद्

57. गायत्र्युपनिषद्

58. गायत्रीरहस्योपनिषद्

59. गारुडोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मंत्रात्मक)

60. गुह्यकाल्युपनिषद्

61. गुह्यषोढान्यासोपनिषद्

62. गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्

63. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्

64. गोपीचन्दनोपनिषद्

65. चतुर्वेदोपनिषद्

66. चाक्षुषोपनिषद् (चक्षुरुपनिषद्, चक्षूरोगोपनिषद्, नेत्रोपनिषद्)

67. चित्त्युपनिषद्

68. छागलेयोपनिषद्

69. छान्दोग्योपनिषद्

70. जाबालदर्शनोपनिषद्

71. जाबालोपनिषद्

72. जाबाल्युपनिषद्

73. तारसारोपनिषद्

74. तारोपनिषद्

75. तुरीयातीतोपनिषद् (तीताबधूतो०)

76. तुरीयोपनिषद्

77. तुलस्युपनिषद्

78. तेजोबिन्दूपनिषद्

79. तैत्तिरीयोपनिषद्

80. त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्

81. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्

82. त्रिपुरोपनिषद्

83. त्रिपुरामहोपनिषद्

84. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्

85. त्रिसुपर्णोपनिषद्

86. दक्षिणामूर्त्युपनिषद्

87. दत्तात्रेयोपनिषद्

88. दत्तोपनिषद्

89. दुर्वासोपनिषद्

90. (1) देव्युपनिषद् (पद्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)

(2) देव्युपनिषद् (शिवरहस्यान्तर्गत अनुपलब्ध)

91. द्वयोपनिषद्

92. ध्यानबिन्दूपनिषद्

93. नादबिन्दूपनिषद्

94. नारदपरिव्राजकोपनिषद्

95. नारदोपनिषद्

96. नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद्

97. नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद्

98. नारायणोपनिषद् (नारायणाथर्वशीर्ष)

99. निरालम्बोपनिषद्

100. निरुक्तोपनिषद्

101. निर्वाणोपनिषद्

102. नीलरुद्रोपनिषद्

103. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्

104. नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्

105. नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्

106. पञ्चब्रह्मोपनिषद्

107. परब्रह्मोपनिषद्

108. परहंसपरिव्राजकोपनिषद्

109. परमहंसोपनिषद्

110. पारमात्मिकोपनिषद्

111. पारायणोपनिषद्

112. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्

113. पिण्डोपनिषद्

114. पीताम्बरोपनिषद्

115. पुरुषसूक्तोपनिषद्

116. पैङ्गलोपनिषद्

117. प्रणवोपनिषद् (पद्यात्मक)

118. प्रणवोपनिषद् (वाक्यात्मक)

119. प्रश्नोपनिषद्

120. प्रणाग्निहोत्रोपनिषद्

121. बटुकोपनिषद् (वटुकोपनिषद्)

122. बह्वृचोपनिषद्

123. बाष्कलमन्त्रोपनिषद्

124. बिल्वोपनिषद् (पद्यात्मक)

125. बिल्वोपनिषद् (वाक्यात्मक)

126. बृहज्जाबालोपनिषद्

127. बृहदारण्यकोपनिषद्

128. ब्रह्मविद्योपनिषद्

129. ब्रह्मोपनिषद्

130. भगवद्गीतोपनिषद्

131. भवसंतरणोपनिषद्

132. भस्मजाबालोपनिषद्

133. भावनोपनिषद् (कापिलोपनिषद्)

134. भिक्षुकोपनिषद्

135. मठाम्नायोपनिषद्

136. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्

137. मन्त्रिकोपनिषद् (चूलिकोपनिषद्)

138. मल्लायुपनिषद्

139. महानारायणोपनिषद् (बृहन्नाराणोपनिषद्, उत्तरनाराणोपनिषद्)

140 महावाक्योपनिषद्

141. महोपनिषद्

142. माण्डूक्योपनिषत्कारिका

143. माण्डूक्योपनिषद्

(क) आगम

(ख) अलातशान्ति

(ग) वैतथ्य

(घ) अद्वैत

144. मुक्तिकोपनिषद्

145. मुण्डकोपनिषद्

146. मुद्गलोपनिषद्

147. मृत्युलाङ्गूलोपनिषद्

148. मैत्रायण्युपनिषद्

149. मैत्रेय्युपनिषद्

150. यज्ञोपवीतोपनिषद्

151. याज्ञवल्क्योपनिषद्

152. योगकुण्डल्युपनिषद्

153. योगचूडामण्युपनिषद्

154. (1) योगतत्त्वोपनिषद्

155. (2) योगतत्त्वोपनिषद्

156. योगराजोपनिषद्

157. योगशिखोपनिषद्

158. योगोपनिषद्

159. राजश्यामलारहस्योपनिषद्

160. राधिकोपनिषद् (वाक्यात्मक)

161. राधोपनिषद् (प्रपाठात्मक)

162. रामपूर्वतापिन्युपनिषद्

163. रामरहस्योपनिषद्

164. रामोत्तरतापिन्युपनिषद्

165. रुद्रहृदयोपनिषद्

166. रुद्राक्षजाबालोपनिषद्

167 रुद्रोपनिषद्

168. लक्ष्म्युपनिषद्

169 लाङ्गलोपनिषद्

170. लिङ्गोपनिषद्

171. वज्रपञ्जरोपनिषद्

172. वज्रसूचिकोपनिषद्

173. वनदुर्गोपनिषद्

174. वराहोपनिषद्

175. वासुदेवोपनिषद्

176. विश्रामोपनिषद्

177. विष्णुहृदयोपनिषदृ

178. शरभोपनिषद्

179. शाट्यायनीयोपनिषद्

180. शाण्डिल्योपनिषद्

181. शारीरकोपनिषद्

182. (1) शिवसङ्कल्पोपनिषद्

183. (2) शिवसङ्कल्पोपनिषद्

184. शिवोपनिषद्

185. शुकरहस्योपनिषद्

186. शौनकोपनिषद्

187. श्यामोपनिषद्

188. श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद्

189. श्रीचक्रोपनिषद्

190. श्रीविद्यातारकोपनिषद्

191. श्रीसूक्तम्

192. श्वेताश्वतरोपनिषद्

193. षोढोपनिषद्

194. सङ्कर्षणोपनिषद्

195. सदानन्दोपनिषद्

196. सन्ध्योपनिषद्

197. सन्यासोपनिषद् (अध्यायात्मक)

198. सन्यासोपनिषद् (वाक्यात्मक)

199. सरस्वतीरहस्योपनिषद्

200. सर्वोपनिषद्

201. स ह वै उपनिषद्

202 संहितोपनिषद्

203. सामरहस्योपनिषद्

204. सावित्र्युपनिषद्

205. सिद्धान्तविध्लोपनिषद्

206. सिद्धान्तशिखोपनिषद्

207. सिद्धान्तसारोपनिषद्

208. सीतोपनिषद्

209. सुदर्शनोपनिषद्

210. सुबालोपनिषद्

211. सुमुख्युपनिषद्

212. सूर्यतापिन्युपनिषद्

213. सूर्योपनिषद्

214. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्

215. स्कन्दोपनिषद्

216. स्वसंवेद्योपनिषद्

217. हयग्रीवोपनिषद्

218. हसषोढोपनिषद्

219. हंसोपनिषद्

220. हेरम्बोपनिषद्

उपनिषदों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। उपनिषदों की संख्या 108 से लेकर 220 तक मानी जाती है। इनमें 11 उपनिषदें प्रमुख मानी जाती हैं। उनके नाम हैं – ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। इन प्रामाणिक उपनिषदों पर ही शंकराचार्य ने अपना भाष्य लिखा है। श्री ह्यूम ने जिन प्रमुख 13 उपनिषदों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है, उनमें इन 11 के अतिरिक्त कौषीतकि और मैत्रायणीय उपनिषदें हैं।[1] मुक्तिक उपनिषद् में श्वेताश्वतर को छोड़कर शेष 10 को ही प्रमुख उपनिषदें माना है।[2] इन 10 उपनिषदों का नाम इस प्रकार है – ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक।[3]

---

1. The Thirteen Principal Upanisads by Robert Ernest Hume.
2. दशोपनिषद् पठ (मुक०उप० 1–27)
3. ईश – केन – कठ – प्रश्न – मुण्ड, माण्डूक्य – तित्तिर।
   ऐतरेय च छान्दोग्य बृहदारण्यकं तथा। (मुक० उप० 1–30)

उपनिषदों को काल-क्रम के अनुसार निम्न प्रकार से बाँटा जा सकता है। इनकी रचना भिन्न कालों में हुई थी।

प्राचीनतम उपनिषदें (700 ई. पू.)	–	ईश, छान्दोग्य, बृहदारण्यक।
द्वितीय काल की उपनिषदें (600 ई. पू.)	–	ऐतरेय, तैत्तिरीय
तृतीय काल की उपनिषदें (500 ई. पू. से 400 ई. पू.)	–	प्रश्न, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य
चतुर्थ काल की उपनिषदें (300 से 100 ई. पू.)	–	कौषीतकि, मैत्री, श्वेताश्वतर

उपनिषदों का वेदों के अनुसार वर्गीकरण :–

प्रत्येक उपनिषद् का किसी न किसी वेद से सम्बन्ध माना जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि उस उपनिषद् में उस वेद से सम्बद्ध विषयों का ही वर्णन हो। प्रत्येक वेद से सम्बद्ध उपनिषद् की संख्या, उनके नाम एवं उनके शान्ति-पाठ का विस्तृत वर्णन मुक्तिक उपनिषदों[1] में प्राप्त होता है। इनकी संख्या 108 है। संक्षेप में प्रत्येक वेद से सम्बद्ध उपनिषदें इस प्रकार हैं :–

1. अष्टाविंशत्युपनिषद् :, निर्णय सागर प्रेस, 1930, पृ० 363–364

1.	ऋग्वेदीय	–	ऐतरेय, कौषीतकि आदि 10 उपनिषदें
2.	शुक्ल यजुर्वेदीय	–	ईश, बृहदारण्यक आदि 19
3.	कृष्ण यजुर्वेदीय	–	कठ, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, कैवल्य आदि 32
4.	सामवेदीय	–	केन, छान्दोग्य, मैत्रायणि आदि 16
5.	अथर्ववेदीय	–	प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, महानारायण आदि 31

उपनिषदें

उपनिषदों का विषयानुसार वर्गीकरण :–

108 उपनिषदों को विषयानुसार 6 भागों में बाँटा जा सकता है :–

1.	वेदान्त के सिद्धान्तों पर निर्भर	–	24
2.	योग के सिद्धान्तों पर निर्भर	–	20
3.	सांख्य के सिद्धान्तों पर निर्भर	–	17
4.	वैष्णव – सिद्धान्तों पर निर्भर	–	14
5.	शैव – सिद्धान्तों पर निर्भर	–	15
6.	शाक्त तथा अन्य सिद्धान्तों पर निर्भर	–	18[1]

विभिन्न विषयों पर इतनी संख्या में छोटी – बड़ी उपनिषदों के होने का यह कारण है कि सभी धर्मों और मतों के अनुयायियों का यह प्रयत्न रहा है कि उनके मन्तव्य का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई न कोई उपनिषद् हो।

1. वरदाचार्य – संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी) पृ० 42

श्वेताश्वतरोपनिषद् : नामकरण

उपनिषदों के नामकरण का भी अपना ही एक ढंग है। किसी उपनिषद् का नाम पहले मन्त्र के पहले शब्द से पड़ गया, तो किसी का नाम उनके ऋषि के नाम पर पड़ गया। श्वेताश्वतरोपनिषद् का नाम भी इसके अपने ऋषि के नाम पर पड़ा हुआ है। स्वयं इस उपनिषद् के अन्तिम अध्याय[1] (6.21) के इक्कीसवें मन्त्र में यह बतलाया गया है कि श्वेताश्वतर नामक ऋषि ने अपनी तपस्या के प्रभाव तथा परमात्मा की कृपा से ब्रह्म को जाना था और परमहंस संन्यासियों को इसका उपदेश दिया था। इस मन्त्र में केवल यह कहा गया है कि कोई श्वेताश्वतर नामक ऋषि थे। शंकरानन्द[2] नामक टीकाकार ने इसके नाम पर थोड़ा-सा प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि श्वेताश्वतर वह ऋषि है जिसकी इन्द्रियाँ हमेशा ही दमित तथा अन्तर्मुखी हैं, विपरीत प्रवृत्तियों से रहित हैं या जिसका अश्व अत्यधिक रूप से श्वेत है, या जो अष्टांग योग में संलग्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकरानन्द की यह व्याख्या प्रतीकात्मक है। अश्वतर का अर्थ है – खच्चर। इसका एक आशय यह हो सकता है कि एक ऐसा ऋषि जिसका खच्चर सफेद रंग का है। प्राचीनकाल में खच्चरों का काफी प्रयोग होता था और वह एक उपयोगी यातायात का साधन भी माना

---

1. तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्।। (श्व० उप० 6.3)
2. श्वेता अवदाताः सदाऽन्तर्मुखत्वेन विपरीतप्रवृत्तिरहिता अश्वा इन्द्रियाणि यस्य स श्वेताश्वः। अतिशयेन श्वेताश्वः श्वेताश्वतरः। अष्टांगयोगनिरत इत्यर्थः (दीपिका) पृ० 142

जाता था। श्वेताश्व जैसे अर्जुन के नाम का एक पर्याय है उसी प्रकार श्वेताश्वतर एक ऋषि का नाम भी है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् : रचनाकाल

श्वेताश्वतरोपनिषद् के रचना-काल के विषय में कुछ निश्चित् मत प्रकट करना दुष्कर कार्य है। इस उपनिषद् के विषय में विद्वानों की एक धारणा है कि यह उपनिषद् उस काल की रचना है जब सांख्य, योग तथा वेदान्त स्वतन्त्र रूप में दार्शनिक विचारधारा के रूप में स्वीकृत नहीं हो पाए थे। संभवतः यह इसलिए कहा गया है कि इस उपनिषद् में इन तीनों दार्शनिक विचारधाराओं के अंकुर उपलब्ध होते हैं।

कुछ विद्वानों का कहनाहै कि साम्प्रदायिक उपनिषदों की परम्परा में यह उपनिषद् सबसे पहला उपनिषद् है क्योंकि इसका सम्बन्ध रुद्र-शिव से है। इस उपनिषद् के निर्माण के पश्चात् शैव, शाक्त तथा वैष्णव उपनिषदों की एक सुदृढ़ परम्परा प्रारम्भ हो गई और इसी परम्परा में सामान्य वेदान्त, योग और संन्यास से सम्बन्धित विषयों पर भी उपनिषदों की रचना शुरू हो गई।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के काल के विषय में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। इ. डब्ल्यू हॉपकिन्स[1] के अनुसार इस उपनिषद् का काल ई. पू. चतुर्थ शताब्दी है। कीथ[2] ने हॉपकिन्स द्वारा सुझाए गए समय पर आपत्ति की है परन्तु वे स्वयं कोई काल निर्धारित नहीं कर सके। आर.जी. भण्डारकर[1] का सुझाव है कि यह उपनिषद् भक्ति काल की

1. जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, वाल्यूम 22 पृ० 336 (फु०नो० 1)
2. रिलिजन एण्ड फिलासफी ऑफ दि वेद एण्ड दि उपनिषद्, पृ० 502-503
3. वैष्णाविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजीयस सिस्टम्स पृ० 110

प्रारम्भिक रचना है। डॉ. राधाकृष्णन[1] का कहना है कि यह उपनिषद् बुद्ध से पूर्ववर्ती है क्योंकि इसमें सांख्य तथा योग के पारिभाषिक शब्द उपलब्ध होते हैं। इस उपनिषद् के अन्तिम अध्याय[2] में भक्ति की ओर एक हल्का-सा संकेत किया गया है। इसको देखकर यह कहा जा सकता है कि भक्ति सूत्रों तथा गीता में जो भक्ति की सुदृढ़ परम्परा मिलती है यह संकेत निश्चित ही उस परम्परा से काफी पुराना है। जहाँ तक इस परम्परा के विकास का सम्बन्ध है, निश्चित ही उस हल्के संकेत से गीता की भक्ति तक की लम्बी यात्रा में लगभग दो सौ वर्षों का समय अवश्य लगा होगा। आजकल यह माना जाता है कि महाभारत का वर्तमान रूप ईसा के पश्चात् तृतीय शताब्दी तक अवश्य पूर्ण हो गया होगा। इस प्रकार इसमें से दो सौ वर्षों का अन्तर करने के पश्चात् ईसा के पश्चात् प्रथम शताब्दी ही श्वेताश्वरोपनिषद् का संभावित काल प्रतीत होता है यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसको ईसा पूर्व चतुर्थ या पाँचवीं शताब्दी में भी रखने का प्रयत्न किया है।

---

1. इंडियन फिलासफी, वाल्यूम I, पृ० 511
2. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
   तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मनः।। (श्०उप० 6.23)

श्वेताश्वरोपनिषद् का सामान्य परिचय

सम्पूर्ण उपनिषद् छः अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में सर्वप्रथम सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय विषयक प्रश्नों को उठाया गया है इसके अनन्तर यह प्रतिपादित किया गया है कि 'देवात्मशक्ति' ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा सृष्टि का निर्माण किया गया है।[1] इसके चक्र तथा नदी रूपी प्रतीकों के माध्यम से संसार के प्रपञ्च का निरूपण किया गया है। इसी अध्याय में आगे चलकर भोक्ता, भोग्य और नियन्ता से युक्त त्रिविध ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है।[2] पहले अध्याय के अन्त में उद्घोष किया गया है कि अपने शरीर तथा प्रणय पर निरन्तर चिन्तन करने से निगूढ़ आत्मा का दर्शन किया जा सकता है। रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे[3] का मत है कि श्वेताश्वरोपनिषद् का स्वाभाविक अन्त इसके पहले अध्याय में ही हो जाता है जैसा कि अन्त में शब्दों की पुनरावृत्ति से प्रतीत होता है तथा शेष अध्याय किसी परवर्ती युग के क्षेपक हैं। दूसरे अध्याय के प्रारम्भिक पाँच मन्त्रों में सूर्य देवता का वर्णन है और उनसे प्रार्थना की गई है कि वह हमारे मन एवं बुद्धि को तत्त्व-चिन्तन में लगाए।[4]

---

1. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
   यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।। (श्०उप० 1-3)
2. उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
   अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्त। (श्०उप० 1.7)
3. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० 21, जयपुर 1871
4. युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
   अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत (श्०उप० 2.1)

इसके पश्चात् योग का विशद वर्णन दिया गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस उपनिषद् का उद्देश्य योग को एक शास्त्र रूप में प्रतिपादित करना नहीं है जैसा कि पातञ्जल योगसूत्र में दृष्टिगोचर होता है, यहाँ पर केवल यौगिक प्रक्रिया का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। तीसरे अध्याय में रुद्र - शिव के माहात्म्य का विशद वर्णन किया गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि रुद्र की संसार ही उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार का मात्र एक कारण है।[1] चौथे अध्याय में परमात्मा तथा जीवात्मा की तुलना दो पक्षियों से की गई है। जीवात्मा संसार रूपी वृक्ष के फल को खाता है तथा परमात्मा जीवात्मा का मात्र दर्शन करता है।[2] यह सारा संसार उस परमात्मा की माया है और वह महेश्वर स्वयं मायावी है। यह सारा संसार उसके अवयवों से व्याप्त है। वह परमात्मा सृष्टि की उत्पत्ति के अत्यधिक गहन क्षणों में भी विद्यमान रहता है ओर वही सारे लोकों का रक्षक भी है। अन्त में रुद्र देवता से प्रार्थना की गई है कि आप हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गौ और अश्वों का विनाश न करें।[3] पाँचवां अध्याय इस उद्घोष से प्रारम्भ होता है कि उस परमात्मा में विद्या और अविद्या अन्तर्निहित है और जो विद्या और अविद्या का भी नियमन करता है वह तो कोई अन्य ही

---

1. एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः (श्वे०उप० 3.2)

2. (क) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति (श्वे०उप० 4.6)
(ख) ऋ० वे०, 1.164.20

3. मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे (श्वे०उप० 4.22)

है।[1] इसके पश्चात् सांख्य सूत्रों के प्रणेता कपिल मुनि का संकेत किया गया है। इस अध्याय में कुछ अन्य दार्शनिक विचारधाराओं का भी उल्लेख किया गया है। अन्तिम अध्याय में शुद्ध सगुण ईश्वर का निरूपण तथा गुरु-भक्ति और ईश्वर भक्ति का आदेश है।

---

1. द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः (श्व०उप० 5.1)

द्वितीय अध्याय

योग की अवधारणा

(क) योग से अभिप्राय

(ख) योग की महत्ता

(ग) योग के अंग

योग से अभिप्राय

'योग' भारतीय सनातन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति का अभिन्न अंग है। योग का इतिहास अति प्राचीन है। इसका मूल रूप वैदिक संहिताओं में सूत्ररूप में उपनिबद्ध है। अध्यात्मपरम्परा एवं संस्कृत वाङ्मय के आस्तिक दर्शनों में भी योग का स्थान अप्रतिमरूप से स्वीकार किया गया है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त योगी की मूर्ति इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन काल में भी योग का महत्त्वपूर्ण स्थान था। योग भारतवर्ष की अमूल्य सम्पत्ति है, जिसकी सुदूर अतीत काल से अविच्छिन्न रूप से गुरुपरम्परा चली आ रही है।

योग यथार्थतः एक दर्शन है, वैदिक षड्दर्शनों में इसकी गणना होती है। इस दर्शन के प्रवर्तक 'महर्षि पतञ्जलि' हैं। उनका यह योगदर्शन समाधि, साधन, विभूति तथा कैवल्य नामक चार पादों में विभक्त है। महर्षि पतञ्जलि के योग-दर्शन पर भी अनेकों व्याख्याएँ, भाष्य, विवरण आदि हैं। ये सभी योग के प्रशंसापरक और परमात्म-प्राप्ति में अत्यन्त सहायक हैं।

यद्यपि भारतवर्ष में सभी भाषाओं में योग-साहित्य पर अपार सामग्री है और केवल योग पर ही विभिन्न भाषाओं में अनेकों ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जिनकी विस्तृत सूची आफ्रेक्ट तथा कुन्हन राजा और बी. राघवन (B. Raghvan) आदि के कैटेलग्स कैटेलग्रम (बृहत् संस्कृत ग्रन्थ-सूची) आदि में देखी जा सकती है। वेद, उपनिषद्, आरण्यक,

ब्राह्मण - ग्रन्थ - इतिहास - पुराण सभी योग की व्याख्या एवं विवरण प्रस्तुत करते हैं। योगवासिष्ठ में योग पर बत्तीस हज़ार (32000) श्लोक हैं।

योग एक सच्ची विद्या है जिसका फल प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। मनुष्य - शरीर का परम प्रयोजन सकल दुःखनिवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति है। केनोपनिषद् में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि इस मानव - शरीर में यदि परमतत्त्व का बोध हो गया तो मानव - शरीर सार्थक हो गया अन्यथा मानो महान् विनाश या सर्वनाश हो गया। ऐसा होने पर चौरासी लाख योनियों के चक्र में पुनः जाना पड़ेगा।[1]

योग एक स्वतन्त्र दर्शन होते हुए भी ऐसी सार्वभौम साधन - सामग्री प्रस्तुत करता है, जिसका उपयोग सभी दर्शनों, धर्मों एवं मतमतान्तरों में भी खुल्लम - खुल्ला हुआ है। यह आत्मा - परमात्मा का मेल ही नहीं करवाता है, अपितु तत्त्व - साक्षात्कार एवं स्वास्थ्य - लाभ भी करवाता है। यही कारण है कि इसकी महत्ता, उपादेयता एवं व्यावहारिकता उतनी ही आधुनिक समय में भी है, जितनी कि इसके प्रस्थापकों के प्राचीन युग में थी।

'योग' शब्द की व्युत्पत्ति 'युज्' धातु से हुई है। याज्ञवल्क्य 'युजिर् योगे' ऐसी व्युत्पत्ति मानते हुए जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को 'योग' की अभिधा प्रदान करते हैं।[2]

---

1. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः (के०उप० 2.5)
2. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मा परमात्मनोः (स० द० सं० पृ० 574)

बलदेव उपाध्याय के अनुसार सभी विक्षेपों को हटाकर मन का एकाग्र होना योग है।[1] जैसे स्वयं पतञ्जलि जी ने कहा है कि योग चित्त की वृत्तियों के निरोध को कहते हैं।[2]

अमरकोश के अनुसार योग का अभिप्राय अनेक प्रकार से है जैसे – कवच, सामदामभेददण्डनीति आदि उपाय, ध्यान, संगति, युक्ति।[3]

योग दर्शन का मुख्य सिद्धान्त – उन उपायों की शिक्षा देना है, जिनके द्वारा मानव आत्मा पूर्णरूप से परमात्मा में मिल जाए और इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति हो जाए उसी मार्ग का नाम योग है। वाचस्पत्य नामक शास्त्र से ऐसा भाव उपलब्ध होता है।[4]

रघुवंश महाकाव्य में महाकवि कालिदास लिखते हैं कि योग के द्वारा शरीर का त्याग करना चाहिए।[5]

शंखस्मृति कहती है कि सभी का हित सोचने वाला, मैत्री भाव रखने वाला, पत्थर एवं सोने को समान जानने वाला ध्यान योग में निरत योगी परमगति को प्राप्त होता है।[6]

---

1. सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान परिहृत्य मनोयंत्र त सं समाधिः (भा० द० ब० उपा० पृ० 303
2. योगश्चित वृत्ति निरोधः (पा० यो० द० स० 1.2)
3. योगः -- संनहनो पायध्यान संगीत युक्तिषु इत्यमरः (अ०को० पृ० 548)
4. वाचस्पत्यम् शास्त्र – योगस्य व्याव्या
5. योगेनान्ते तनुत्यजाम् (रघु० 1/8)
6. सर्वभूतहितो मैत्र समलोष्ट्राश्म काञ्चनः।
   ध्यानयोगरतोनित्यं भिक्षुर्यायात् परां गतिम्।। (शं० स्मृ० अ० 7 श्लो० 8)

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में योग से अभिप्राय – जोड़ना, मिलाना, मिलाप, संगम, मिश्रण है।[1]

कठोपनिषद् के मतानुसार मन का वशीकरण ही योग है मन को वश में करते हुए इन्द्रियों को लौकिक विषयों से हटाकर परमार्थ तत्त्व में लगाना ही योग है जिसके फलस्वरूप पौनपुन्येण मनुष्य को जन्म नहीं लेना पड़ता।

जो मनुष्य विवेकशील बुद्धि रूपी सारथी से सम्पन्न मन रूपी लगाम को वश में रखने वाला है, वह संसार मार्ग को चीरता हुआ पार पहुँचकर सर्वव्यापी परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के सुप्रसिद्ध परम पद को प्राप्त हो जाता है। यही परागति है।[2]

गीता में योग का अर्थ समदर्शी होना पाया गया है।[3]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी आत्मज्ञान एवं परमात्म तत्त्व के मार्ग का निरूपण करते हुए कहा गया है कि जो एक नित्य चेतन (परमात्मा) बहुत से कर्मफल भोगों का विधान करता है उस भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग से प्राप्त करने योग्य सबके कारणरूप

---

1. युजभावादौ घज् कुत्वं – उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्।।
(अ० शाकु० 7/22)

2. यस्तु विज्ञानवान भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।
विज्ञानसारथिर्यस्त, मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोत तद्विष्णोः परमं पदम्।। (कठ० उप० अ० 1, व० 3 मं० 8/9)

3. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः।। (भ० गी० अ० 5, श्लो० 18)

परमदेव परमात्मा को जानकर समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अत: योग से अभिप्राय यहाँ मोक्ष बताया गया है।[1]

चरक-संहिता में शारीरिक एवं मानसिक सन्तुलन का सम बने रहना ही सुखमय योग है ऐसा पाठ मिलता है अर्थात् जीवन का सुखमय बना रहना ही योग है ऐसा चरक का मत है।[2]

मन को वृत्तिहीन करके जीवात्मा को परमात्मा में लगाना। आत्मा को परमात्मा में विलीन कर विमुक्त होना ही योगाभिप्राय है।[3]

हारीत स्मृति के अनुसार सभी प्रकार के पातकों का नाशक योग है जिससे प्रवृत्ति धर्म रूपी बन्धन नष्ट हो जाते हैं और निवृत्ति प्राप्त होती है।[4]

वस्तुत: योग एक संस्कृत शब्द है, जिसका भाव यह है कि जो आप अपने को समझते हैं उससे आप सर्वथा भिन्न हैं। तत्वत: जो आप हैं, उससे संयुक्त करने वाली साधना का नाम योग है। आप सम्पूर्ण विश्व की मूल शक्ति हैं न कि इस सीमित शरीर में

---

1. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै: (श० उप० 6/13)
2. शरीर सत्वसंज्ञ च व्याधीनामाश्रयोमत:।
तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं सम:।। (च०सं० अ० 1, श्लो० 55)
3. वृत्तिहीनं मन कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि एकीकृत्य
विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते। (द०स्० अ० 7, श्लो०)
4. योगाभ्यास बलेनैव नश्येयु सर्वपातकान्।
तस्माद्योगपरोभूत्वा ध्यायेन्नित्यं क्रियापर:।। (हा० स्मृ० अ० 7, श्लो० 3, पृ० 314)

रहने वाले सामान्य व्यक्ति। अपने हृदय के एकान्त मूल भाग में जो स्थित है, वही आप हैं। विश्व के सभी धर्मों ने उस तत्त्व को विभिन्न भाषा एवं शैलियों में समझाने का प्रयास किया है। बाईबल के अनुसार – 'परमात्मा ने मनुष्य को अपने ही आकार-प्रकार के अनुरूप निर्मित किया, स्वर्ग का साम्राज्य उसके हृदय में ही है।' मुसलमानों के पवित्र ग्रन्थ कुरान की यह घोषणा है कि – 'मनुष्य परमात्मा की ही एक ज्योतिर्मय किरण है।' उपनिषदें भी 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तुम वही परमात्मा हो' – यह कहकर इसी तथ्य को प्रतिपादित करती हैं। यही विश्व के सभी धर्मों की आधारभूत मान्यता है।

ईसा मसीह, गौतम बुद्ध, राम, कृष्ण, मूसा और मोहम्मद आदि सभी ने मस्तिष्क की संकीर्णता से ऊपर उठकर उदार एवं गम्भीर चिन्तन का और समस्त विश्व के साथ आत्मभाव करने का निर्देश दिया है और इस प्रकार सभी प्राणियों तथा परमात्मा के साथ तादात्म्य संस्थापित करने का उपदेश दिया है। यही योग का मुख्य लक्ष्य है अर्थात् आत्मा या परमात्मा का साक्षात्कार ही मनुष्य के जीवन का मूल लक्ष्य है।

योग विषय अनन्त तथा असीम है। सभी आचार्यों ने इसकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ दी हैं। योग जैसे गहन और दुरुह विषय में पूर्वाचार्यों के अनेक मत होना स्वाभाविक है। जो विषय गूढ़ और जटिल होता है उसका अनेक प्रकार से समीक्षण किया जाना भी एक प्रकार से उसके महत्त्व का सूचक है। 'योग' शब्द प्रसंगाधीन अनेक अर्थों में पाया जाता है। अतः

उसका सांकेतिक अर्थ करना उचित नहीं। कोई योग का अर्थ समाधि करता है तो किसी के मत में अष्टांगयोग द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करना ही योग है। कुछ लोग योग का अर्थ सहकार करते हैं तो किसी के मत में 'योग' नाम दो भावों के संयोग या मिलाप का है। गवेषणापूर्वक निरीक्षण करने से पता चलता है कि योग का अर्थ 'त्याग' करना ही उचित है। वह चाहे किसी अभिप्रेत- अभीष्ट के मिलाप के लिए हो या स्वतन्त्र हो किन्तु योग का अर्थ 'त्याग' करना युक्तियुक्त एवं हेतुपूर्ण है। लोक में भी योग का अर्थ त्याग ही देखा जाता है। जैसे – अमुक मनुष्य योगी हो गया, अमुकने तो मानो संसार से योग ही लिया हो, ऐसा लोग कहते हैं। संन्यासयोग, सांख्ययोग, निष्कामकर्मयोग आदि शब्दों से ऐसी प्रतीती होती है कि योग शब्द त्यागमात्र में पर्यवसित है।

योग की महत्ता

आज के इस वैज्ञानिक युग में मानव ने विकास तो किया है, परन्तु वह अपने से बहुत दूर होता चला जा रहा है। हर प्रकार के सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध होने पर भी उसके भीतर कहीं कुछ कमी है, जिसे पाने के लिए वह सर्वदा प्रयत्नशील है। यदि कहा जाए कि वह कमी किसी भौतिक वस्तु की है, तो यह कहना युक्ति संगत न होगा, क्योंकि फिर तो विकसित देशों में जो आज अशान्ति दिखलाई पड़ रही है, वह नहीं होनी चाहिए थी। जबकि ऐसा आज प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। अतः हर प्रकार की सुख-सुविधा के साथ-साथ मन की शान्ति का होना अत्यन्त अनिवार्य है और मन की शान्ति तभी संभव है जब मन को चारों ओर से अर्थात् बाह्य जगत् से हटाकर आन्तरिक जगत् में एकाग्र किया जाए और मन को एकार्ग कैसे किया जाए – इस तथ्य को जानना भी आवश्यक है और इसे जानने का सुलभ एवं सरलतम उपाय है – योग। आज के इस अशान्त वातावरण में, जबकि चारों ओर फैले हुए आतंक ने मनुष्य की मानसिक स्थिति को हिलाकर रख दिया है, तो दूसरी ओर भयावह रोगों ने घेर रखा है – ऐसे समय में योग मानव-जीवन के लिए रामबाण औषधि सिद्ध हो सकता है।

इस समय सम्पूर्ण विश्व का जनमानस अशान्ति से बुरी तरह त्रस्त है, उसे किसी ऐसी विद्या की खोज है, जिससे कि शान्ति प्राप्त हो सके। इस कार्य के लिए यह कहना अनुचित

न होगा कि – भारतीय योग विश्व के जनमानस का अभिलषित मनोरथ पूर्ण करने में पूर्णतया समर्थ है। यही कारण है कि आज सम्पूर्ण विश्व में योग के प्रति विशेष अभिरुचि देखी जा रही है। केवल भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी योग-प्रशिक्षण केन्द्र खुल रहे हैं।

योग जीवन को सार्थक बनाने वाले साधनों में उत्तम साधन है। इसका महत्त्व तो इसी से जाना जा सकता है कि यह मनुष्य को सभी प्रकार के आवरणों और विक्षेपों से सदा के लिए मुक्त करता हुआ ऐसा विशुद्ध अन्तःकरणवाला बना देता है कि परमात्मा से उसका अभिन्न सम्बन्ध अपने-आप स्थापित हो जाता है। अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है– 'योग से युक्त, विशुद्ध अन्तःकरणवाला विजितात्मा – शरीरजयी, जितेन्द्रिय और सब भूतों में अपने आत्मा को देखने वाला यथार्थ ज्ञानी हो जाता है। इस प्रकार स्थित पुरुष लोकसंग्रह के लिए कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्मों से नहीं बंधता'।[1]

योग तन को सुगठित, मन को नियन्त्रित और आत्मा को उद्भासित करता है। यह सभी अभ्युत्थानों का सबसे मुख्य आधार एवं सारस्वत उपलब्धि का अक्षुण्ण स्रोत है। इसके नियमित अभ्यास से मनुष्य के सारे संशय दूर हो जाते हैं। अपनी ऊँचाई के चरम बिन्दु पर

---

1. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। (भ० गी०, 5/7)

पहुँचकर योग आत्मा और परमात्मा के मिलन का अप्रतिम माध्यम बन जाता है।[1]

तत्त्वदर्शी महर्षियों ने परमात्मा की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय 'ध्यान' अर्थात् 'योग' ही बताया है।[2]

योग के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को यही समझाया था कि – प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदों में एवं अन्यत्र भी मनुष्यों का कल्याण करने के लिए अधिकारिभेद से तीन प्रकार के योगों – ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का उपदेश दिया है। मनुष्य के परम कल्याण के लिए इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है।[3]

यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि मन ही बन्धन और मोक्ष का मूल कारण है।[4] ऐसी स्थिति में आवश्यकता है मन को अनुरूपता प्रदान करने की, जिससे भटकाव की स्थिति उत्पन्न ही न हो। तात्पर्य यह है कि योग-साधना द्वारा मन को निरन्तर ईश्वरोन्मुख करने का ही प्रयत्न वांछनीय है।

योग का यह वैशिष्ट्य है कि उसकी साधना की ज्योति में आत्मतत्त्व द्वारा परब्रह्म

---

1. यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशानम्।। (कठ० उप० 2.3.15)
2. ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्।। (श्व०उप० 1/14)
3. योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।। (भ० गी० 11/10/6)
4. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। (भ० गी०)

परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है, फिर तो उसके सामने किसी प्रकार के बन्धन के रहने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। योगयुक्त होते ही इन्द्रियाँ सही रूप में विकसित होने लगती है। इन्द्रियों को जड़ता से ऊपर उठानेवाला अनुपम तत्त्व योग ही है। भारतीय चिकित्साशास्त्र[1] में भी यही सिद्धान्त निरूपित है।

तत्त्वतः योगाभ्यास से एक साथ अनेक लाभ होते हैं। यथा – आलस्य-त्याग, आत्मबल-विस्तार, भय-संशय-निवारण, उत्साहवृद्धि, स्वास्थ्यलाभ, बौद्धिक विकास, आध्यात्मिक उन्नयन आदि। योग एक व्यवहार-परक विद्या है। इसलिए साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी इसके अभ्यास से असाधारण लाभ उठा सकता है।

अनेक योगासन ऐसे हैं, जिन्हें अति सरलता से अपनाकर शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का विकास किया जा सकता है, क्योंकि शरीर और मन के स्वस्थ रहने पर मनुष्य असम्भव-से-असम्भव कार्यों को भी सम्पन्न कर लेता है।

संसार को भयंकर रोगों से मुक्त करना अथवा उनसे बचे रहने का मार्ग-दर्शन करना योगविद्या की महान् देन है। आज भी अनेक चिकित्सा-केन्द्रों में विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगों की चिकित्सा की जाती है। शारीरिक और मानसिक इन द्विविध रोगों के निवारण के लिए योग में दो प्रकार की साधनाएं निर्धारित की गई हैं – बहिरंग और

---

1. सेन्द्रियचेतनद्रव्य निरिन्द्रियमचेतनम्। (आचार्य चरक)

अन्तरग। अष्टागयाग के प्रथम पाँच अग अर्थात् यम - नियम - आसन - प्राणायाम - प्रत्याहार बहिरग साधन ह तथा अन्तिम तीन धारणा - ध्यान - समाधि अन्तरंग साधन कहे गए हैं। शरीर की स्वस्थता के लिए बहिरंग साधन और मानसिक स्वस्थता के लिए अन्तरंग साधन विशेष रूप से उपयोगी हैं। योग - साधना का प्रत्येक अंग अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। यह योग - साधन ऐसा है कि इसका थोड़ा - सा अनुष्ठान करने से ही उचित लाभ हो सकता है। इसीलिए कहा जाता है कि – सम्पूर्ण शास्त्रों में यह योग शास्त्र ही प्रत्यक्ष अनुभव का शास्त्र है।

योग के सम्यक् अभ्यास से तो रोग और जरा - जन्य क्लेश का परिहार होता ही है, साधक को इच्छामृत्यु की शक्ति भी प्राप्त हो जाती है अर्थात् योगाग्निमय शरीर को प्राप्त कर लेने वाले उस योगी के शरीर में न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है।[1]

यह योग का ही प्रभाव है कि मनुष्य का शरीर काल के निकष पर खरा उतरकर तप्त कञ्चन की भाँति दमकता रहता है और प्राणवायु पर अधिकार कर लेने से उसका मन भी सदा के लिए परिशुद्ध हो जाता है।[2]

---

1. न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
   प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम। (श्वे०उप० 2/12
2. मनोऽचिरात् स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
   वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम।। (भा० पु० 3/28/10)

इस प्रकार मनुष्य के सर्वांगीण विकास में योग की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। यह योग-तत्त्व चरित्र-निर्माण, चिकित्सा-विधान, सामाजिक उत्थान, राष्ट्रोन्नयन एवं विश्व-कल्याण की भावना को विकसित करने से लेकर परमात्मसाक्षात्कार तक की अप्रतिम साधन है।

अष्टांग योग

महर्षि पतंजलि ने जीवों के कल्याण के लिए नाना प्रकार के शास्त्रों में वर्णित एवं आप्त - पुरुषों द्वारा व्यवहृत योग सम्बन्धी सार - तत्त्व को अष्टांग योग के रूप में प्रतिपादित किया है। जीव के बन्धन अथवा दुःख का मूल कारण अज्ञान है। वह प्रकृति से पृथक् है परन्तु भ्रान्ति से उसको अपना रूप समझता है। यह भ्रान्ति अथवा अज्ञान जब तक दूर नहीं होता तब तक आवागमन के दुःखमय चक्कर से छुटकारा नहीं हो सकता, इस अज्ञान की निवृत्ति के लिए योग अथवा समाधि उत्कृष्ट साधन माना गया है।

अनेकों व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगाने की चेष्टा करते हैं, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि समाधि की सिद्धि के लिए यम - नियमों के पालन की विशेष आवश्यकता है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार की वृत्तियों के नष्ट हुए बिना चित्त का एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकते। अतः शरीर, मन, इन्द्रियों एवं बुद्धि की शुद्धि के लिए ही साधनों का निर्माण किया जाता है। जिससे द्रष्टा एवं दृश्य की भेदकता समाप्त हो सके अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार हो सके।

दक्ष स्मृति में कहा गया है कि –

"किसी राजा ने सम्पूर्ण विश्व को क्यों न जीत लिया हो, वह विश्वजीत उपाधि से

चाहे विभूषित क्यों न हो। परन्तु वह वास्तविक रूपेण विश्व-विजेता नहीं हो सकता है विश्वविजयी वही हो सकता है जिसने मन को जीत लिया हो।[1]"

तभी तो कहावत है कि 'मन के जीत जीत है, मन के हारे हार।' योगोपलब्धि के लिए मन को जीतना ही महान उपलब्धि है।

वैसे तो समाधि की इच्छावाले पुरुषों को योग के आठों ही अंगों का साधन करना चाहिए, किन्तु यम और नियमों का पालन तो अवश्य ही करना चाहिए। जैसे नींव के बिना मकान नहीं ठहर सकता, ऐसे ही यम-नियमों का पालन किये बिना ध्यान और समाधि का सिद्ध होना असम्भव-सा है। यम-नियमों में भी जो पुरुष यमों का पालन न करके केवल नियमों का पालन करना चाहता है, उससे नियमों का पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता।

मनुस्मृति में कहा गया है कि – 'बुद्धिमान् पुरुष नित्य-निरन्तर यमों का पालन करता हुआ ही नियमों का पालन करे, केवल नियमों का नहीं। जो यमों का पालन न करके, केवल नियमों का पालन करते हैं वह साधन-पथ से गिर जाते हैं।[2]' इनका साधन किये बिना ध्यान और समाधि की सिद्धि होनी कठिन है। अतः योग की सिद्धि चाहने वाले

---

1. बलेन परराष्ट्राणि गृहणन् शूरस्तु नोच्यते।
जितो येनेन्द्रियग्रामः स शूरः कथ्यते बुधैः।। (द०स्०, अ० 7, श० 18)
2. यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्।। (मन० स्० 4/204)

पुरुष को यम-नियमों का साधन अवश्य ही करना चाहिए। इनके पालन से चोरी, झूठ, कपट आदि दुराचारों का और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणों का नाश होकर, अन्तःकरण की पवित्रता होती है और उसमे उत्तम गुणों का समावेश होकर साधक जो चाहता है वही हो सकता है। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधनों में बाधक हैं। इसलिये ध्यान और समाधि की इच्छा करने वाले साधकों को दोषों का नाश करने के लिये प्रथम यम-नियमों का पालन करके ही योग के आठों अंगों का अनुष्ठान करना चाहिए। जो पुरुष योग के आठों अंगों का अच्छी प्रकार से साधन कर लेता है, उसका अन्तःकरण पवित्र होने पर ज्ञान की अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहने वाला पुरुष तो क्लेश और कर्मों से छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

योग और योगांग

जीव और शिव का मिलना योग है। शिव और शक्ति का मिलना योग है। भक्त और भगवान् का मिलना योग है। वृत्ति का भगवदाकार होना योग है। वृत्ति का आत्माकार होना योग है। ऐसा होने पर भी चित्तवृत्ति का विषयाकार होना भोग है। महर्षि पातंजलि अनुसार योगांगों की संख्या आठ हैं – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। शिव पुराण में भी ये ही आठ अंग माने गए हैं।[1]

---

1. (क) यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
(पा०यो०द० अ० 2, सू० 29)
(ख) शि० पु० वायु सं० अ० 37, अन्तिम श्लोक

इन आठ अंगों की दो भूमिकाएँ हैं – (1) बहिरंग, (2) अन्तरंग। उपर्युक्त आठ अंगों में से पहले पाँच को बहिरंग कहते हैं, क्योंकि उनका विशेषतया बाहर की क्रियाओं से ही सम्बन्ध है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग हैं। इनका सम्बन्ध केवल अन्तःकरण से होने के कारण इनको अन्तरंग कहते हैं।

योग के आठों अंगों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :–

1. **यम :–**

यम का अर्थ है मन एवं इन्द्रियों का नियमन करना। यह पाँच प्रकार का होता है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।[1] जो मनसा, वाचा, कर्मना करणीय है –

(क) **अहिंसा –** किसी प्राणी को या अपने को (अनुचित कष्ट) भी मन, वाणी, शरीर द्वारा कभी किसी प्रकार, किञ्चिमात्र भी कष्ट न पहुँचाने का नाम अहिंसा है। चाहे धार्मिक हिंसा ही क्यों न हो महर्षि पातंजलि अनुसार तर्क-वितर्क से उससे बचे रहना में ही श्रेयस्कर है।

(ख) **सत्य –** अन्तःकरण और इन्द्रियों द्वारा जैसा निश्चय किया हो, हित की भावना से, कपटरहित प्रिय शब्दों में वैसा-का-वैसा ही प्रकट करने का नाम सत्य है।

---

1. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (यो॰द॰ 2/30)

(ग) **अस्तेय** – मन, वाणी, शरीर द्वारा किसी प्रकार के भी किसी के स्वत्व को न चुराना, न लेना और न छीनना अस्तेय है।

(घ) **ब्रह्मचर्य** – वीर्य पर विजय प्राप्त करना (तेजस को प्राप्त करना) ही ब्रह्मचर्य है।

(ङ) **अपरिग्रह** – कभी भी किसी भी प्रकार किसी भी विकट परिस्थिति में किसी भी वस्तु की अभिलाषा न रखना एव अपनी आवश्यकता से अधिक धन - अन्न सञ्चय न करना अपरिग्रह है।

इन पाँचों यमों का सभी जाति, देशकाल में पालन होने से एवं किसी भी निमित्त से इनके विपरीत हिंसादि दोषों के न घटने से इनकी संज्ञा 'महाव्रत' हो जाती है।

जाति, देश, काल और निमित्त से अनवच्छिन्न यम का सार्वभौम पालन महाव्रत होता है।[1]

सार्वभौम के निम्नलिखित प्रकार हैं :–

1. जातिगत सार्वभौम
2. देशगत सार्वभौम
3. कालगत सार्वभौम
4. समयगत सार्वभौम

1. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। (यो० द० 2/31)

2. नियम

कुछ कर्त्तव्य कर्मों को नियम कहते हैं शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर - प्राणिधान – ये पाँच नियम माने गए हैं।[1] साधक की आत्मशुद्धि के लिए नियमों का पालन आवश्यक है।

(क) **शौच –** से तात्पर्य है – पवित्रता। यह दो प्रकार की होती है (1) बाहरी और (2) भीतरी। जल - मिट्टी से शरीर की पवित्रता होती है, स्वार्थ - त्याग से व्यवहार और आचरण की तथा न्यायोपार्जित द्रव्य से प्राप्त सात्त्विक पदार्थों के पवित्रतापूर्वक सेवन से आहार की जो पवित्रता होती है यह बाहरी पवित्रता होती है। अहंता, भय, ममता, राग - द्वेष, ईर्ष्या और काम - क्रोधादि भीतरी दुर्गुणों के त्याग से भीतरी पवित्रता होती है।

(ख) **संतोष –** से तात्पर्य है – सम्यक तुष्टि। सुख - दुःख, लाभ - हानि, यश - अपयश, सिद्धि - असिद्धि, अनुकूलता - प्रतिकूलता आदि के प्राप्त होने पर सदा - सर्वदा संतुष्ट - प्रसन्नचित्त रहने का नाम संतोष है।

(ग) **तप –** मन और इन्द्रियों के संयमरूप धर्म - पालन करने के लिए कष्ट सहने का और तितिक्षा एवं व्रतादि का नाम तप है।

1. शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (यो० द० 2/32)

(घ) **स्वाध्याय** – कल्याणप्रद शास्त्रों का अध्ययन और इष्टदेव के नाम का जप तथा स्तोत्रादि पठन - पाठन एवं गुणानुवाद करने का नाम स्वाध्याय है।

(ङ) **ईश्वर – प्रणिधान** – ईश्वर की भक्ति अर्थात् मन - वाणी और शरीर द्वारा ईश्वर के लिए, ईश्वर के अनुकूल ही चेष्टा करने का नाम ईश्वर - प्रणिधान है।

उपर्युक्त यम और नियमों के पालन में बाधक हिंसा आदि विपरीत वृत्तियों के नाश के लिए महर्षि पतञ्जलि उपाय बतलाते हैं – हिंसादि वितर्कों से बाधा होने पर प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिए।[1]

यम – नियमों के पालन का महान् फल

अहिंसारूपी महाव्रत के पूर्ण पालन होने पर उस योगी के समीप दूसरे (स्वाभाविक वैर रखने वाले) प्राणी भी वैर का अर्थात् हिंसावृत्ति का त्याग कर देते हैं।[2]

सत्य के अच्छी प्रकार पालन से उस सत्यवादी की वाणी सफल हो जाती है, अर्थात् वह जो कुछ कहता है वही सत्य हो जाता है।[3]

चोरी की वृत्ति का सर्वथा त्याग हो जाने पर उसे सब रत्नों की उपस्थिति हो जाती

1. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। (यो० द० 2/33)
2. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः। (यो० द० 2/35)
3. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (यो० द० 2/36)

है, अर्थात् समम्न रत्न उसको दृष्टिगोचर हो जाते हैं और समस्त जनता उसका पूर्णरूप से विश्वास करने लग जाती है।

ब्रह्मचर्य का अच्छी प्रकार से पालन होने पर शरीर, मन और इन्द्रियों में अत्यन्त सामर्थ्य की प्राप्ति हो जाती है।[2]

अपरिग्रह के स्थिर होने पर यानी विषय-भोग-पदार्थों के संग्रह का भली-भाँति त्याग होने पर, वैराग्य और उपरति होकर मन का संयम होता है और मनः संयम से भूत, भविष्यत्, वर्तमान जन्मों का और उनके कारणों का ज्ञान हो जाता है।[3]

अन्तःकरण की पवित्रता से मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय और आत्मा के साक्षात् दर्शन करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।[4]

संतोष से सर्वोन्नम सुरव की प्राप्ति होती है।[5]

तप से मलदोष अर्थात् पापों का नाश हो जाने पर अणिमादि अष्ट काया की सिद्धियाँ और दूर से देरवना-सुनना आदि इन्द्रियों की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।[6]

अपने इष्ट देव के नाम का जप एवं स्वरूप, गुण, प्रभाव और महिमा आदि के पठन-पाठन, श्रवण-मननरूप स्वाध्याय से इष्टदेव का साक्षात् दर्शन हो जाता है।[7]

---

1. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। (यो० द० 2/37)
2. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (यो० द० 2/38)
3. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः। (यो० द० 2/39)
4. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। (यो० द० 2/41)
5. संतोषादनुत्तमसुरवलाभः। (यो० द० 2/42)
6. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। (यो० द० 2/43)
7. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (यो० द० 2/44)

ईश्वरप्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।[1]

3. **आसन –**

जिसके द्वारा बैठा जाए वह आसन कहलाता है।[2] जिस आसन से जो पुरुष सुखपूर्वक दीर्घकाल तक बैठ सके, वही उसके लिए उत्तम आसन है। सुखपूर्वक स्थिरता से बहुत काल तक बैठने का नाम आसन है।[3]

विभिन्न विद्वानों ने आसनों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी है। परन्तु पतंजलि ने इस विषय में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं किया है।

व्यासभाष्यकार ने आसनों की संख्या एकादश (11) दर्शायी है – (1) पद्मासन (2) वीरासन (3) भद्रासन (4) स्वतिक (5) दण्डासन (6) सोपाश्रय (7) पर्यङ्क (8) क्रौञ्च निषदनम् (9) हस्तिनिषदनम् (10) उष्ट्रनिषदनम् (11) समसंस्थान।[4]

सर्वदर्शन संग्रह में दस आसनों का वर्णन है –

पद्मासन, भद्रासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौञ्चनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थानम्। इनमें हस्तिनिषदनम् ग्रहण नहीं किया गया है।[5]

1.
2. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (यो॰ द॰ 2/45)
3. आस्यतेऽननति आसनम् (पा॰ यो॰ द॰ भो॰ वृ॰, पृ॰ 255)
4. स्थिरसुखमासनम्। (यो॰ द॰ 2/46)
तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्कं क्रौञ्चनिषदनम् हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि।।
(व्या॰ भा॰ यो॰ द॰ पृ॰ 255)
5. पद्मासनभद्रासन वीरासन स्वस्तिकासन दण्डासन सोपाश्रय पर्यङ्क क्रौञ्चनिषदन, उष्ट्र निषदनम्, समसंस्थानम् भेदाद्दशविधम्।। (सर्व॰ द॰ स॰ पृ॰ 614)

आसन विभिन्न प्रकार के हैं। उनमें से आत्मसंयम चाहने वाले पुरुष के लिए सिद्धासन, पद्मासन और स्तस्तिकासन – ये तीन बहुत उपयोगी माने गए हैं।

प्रारम्भ में अधिक समय तक ध्यान लगाए रखना साधक के लिए कठिन होता है अतः ध्यान लगाने के लिए शरीर को स्थिर रखना चाहिए और आसनों का अभ्यास करने से ही अंगों में शिथिलता आती है और आसन सिद्ध होते हैं।[1] हलचल, सुख-दुःख, शीतोष्ण, जय-विजय आदि द्वंद्वों से तभी बचा जा सकता है जब आसन विजयी हो जाए।[2] साधक की योग-साधना में आसनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु आज आसनों का महत्त्व सामान्य जन के लिए उससे भी कहीं अधिक प्रतीत होता है।

4. **प्राणायाम –**

अष्टांग योग का चतुर्थ अंग प्राणायाम है। प्राणायाम सिद्धि के लिए साधक को आसनों का अभ्यासी होना अत्यन्त अनिवार्य है। यदि वह आसनों को करने में असमर्थ है, तो वह प्राणायाम नहीं कर सकता। यही कारण है कि प्राणायाम को आसन के पश्चात् रखा गया है।[3]

प्राणायाम यह समस्त पद 'प्राण' एवं 'आयाम' इन दो पदों से बना है, जिसका अर्थ है– श्वास-प्रश्वास का नियन्त्रण।

1. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।। (यो० द० 2/47)
2. ततो द्वन्द्वानभिघातः। (यो० द० 2/48)
3. सत्यासनजये .... प्राणायामः। (व्या० भा० पृ० 263)

आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति के अवरोध हो जाने का नाम प्राणायाम है। बाहरी वायु का भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतर की वायु का बाहर निकलना प्रश्वास है इन दोनों के रुकने का नाम प्राणायाम है।[1]

प्राणायाम का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद[2] में मिलता है। इसके विषय में वेदों से लेकर योगदर्शन तक क्रमशः बहुत-सा साहित्य उपलब्ध होता है। जिनमें प्राणायाम विधि एवं प्राणायाम को अपनाने पर बल दिया गया है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि 'हे मनुष्यो सुनो। जैसे अतिप्रशंसनीय बुद्धि वाली विद्या पुरुषार्थों से युन्क विद्वानजन वायु आदि पदार्थों से युक्त सकाश से दृढ़ निश्चल बहुत से सुखों को भोगता है, तुम भी इस प्राणायाम विद्या को प्राप्त होकर आनन्द को भोगो।[3]

हारीत स्मृति कहती है कि प्राणायाम से वचन (वाणी) पर नियन्त्रण पाया जा सकता है।[4]

अन्य स्मृतियों और पुराणों में लिखा है कि प्राणायाम के सेवन से वचन पर नियन्त्रण पाया जा सकता है एवं वात, पित्त, कफ आदि शारीरिक विकारों को भी दग्ध किया जा सकता है।

1.
2. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः (यो॰ द॰ 2/49)
प्रनू सः मर्त्तः शवसा जनां अतितस्थौ वे ऊती मरुतो यमावत
3. अर्वद्भिर्वाजं भरते धना नृभिरा पृच्छयं क्रतुमा क्षति पुष्यति।
नूष्ठिर मरुतो वीरवन्तमृतीषाहं रयिमस्यासु धत्त।
सहसिणं शतिनं शूशुवांस प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्।।
4. (ऋ॰ वे॰ अ॰ 11, सू॰ 64 मं॰ 13/14)
प्राणायामेन् वचनम् प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
धारणाभिवशे कृत्वा दुर्धषणं मनः। (हा॰ स्मृ॰ अ॰ 7, श्लो॰ 4)

योगसूत्रकार ने चार प्रकार के प्राणायाम बताए हैं –

(1) बाह्यवृत्तिक (2) आभ्यन्तरवृत्तिक (3) स्तम्भवृत्तिक[1] तथा (4) वह प्राणायाम, जिसमें बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार के विषयों का अतिक्रमण कर दिया जाता है।[2] इन्हें क्रमशः रेचक, पूरक एवं कुम्भक नाम से भी जाना जाता है। शिवपुराण[3] में प्राणायाम दो प्रकार का बताया गया है – सगर्भ और अगर्भ।

प्राणायाम के सिद्ध होने पर विवेक ज्ञान को आवृत्त करने वाले पाप और अज्ञान का क्षय हो जाता है।[4] तथा प्राणायाम की सिद्धि से मन स्थिर होकर, उसकी धारणाओं के योग्य सामर्थ्य हो जाती है।[5]

5. प्रत्याहार –

बलपूर्वक इन्द्रियों को हरने वाली प्रक्रिया का नाम प्रत्याहार है। इन्द्रियों (बुद्धीन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों) में राजा चित्त है। जैसे लोक में राजा का अनुगमन प्रजा करती है, ऐसे ही शरीर में स्वामी चित्त का अनुगमन शेष दस इन्द्रियाँ करती हैं जो सांसारिकों के लिए अवगमन एवं योगियों के पक्ष में अपने-अपने विषयों लोक सुखों का त्याग करते हुए अपने स्वामी चित्त के अनुरूप होकर नियम में बंधने को विवश हो जाती है इसी को प्रत्याहार

1. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः (यो० सू० 2/50)
2. बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। (यो० सू० 2/51)
3. अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः। (शि० पु०)
4. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। (यो० द० 2/52)
5. धारणासु च योग्यता मनसः (यो० द० 2/53)

कहते हैं।[1] प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने से इन्द्रियाँ अत्यन्त वश में हो जाती हैं, अर्थात् इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।[2]

इन्द्रियाँ योगी के अधीन होकर रह जाती हैं जिनको मुमुक्षु योगी कैवल्य की प्राप्ति के लिए प्रयोग में लाता है। इन्हीं इन्द्रियों को वश में कर लेने से मुमुक्षु को इन्द्रियजय की संज्ञा प्राप्त होती है।

इन पाँच बहिरंग साधनों के संदर्भ में जो भाव वार्तिककारों में गणमान्य भोज वृत्तिकार के हैं वे इस प्रकार के हैं कि वह योग यम नियमादि के द्वारा बीज भाव को प्राप्त हुआ, आसन एवं प्राणायाम से अंकुरित हुआ और प्रत्याहार से पुष्पित हुआ तथा धारणा, ध्यान एवं समाधि से फल देता है यह साधना पाद में कहा गया है।[3]

6. धारणा –

योग के आठ अंगों में पाँच बहिरंग साधनों के वर्णन के पश्चात् अब शेष तीन अन्तरंग साधनों का वर्णन किया जा रहा है। इनमें प्रथम धारणा का लक्षण बतलाया जाता है, क्योंकि धारणा से ध्यान और समाधि होती है। यह योग का छठा अंग है।

---

1. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः (यो० द० 2/54)
2. ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्। (यो० द० 2/55)
3. तदयं योगो यमनियमादिभिः प्राप्त बीजभावः। आसन प्राणायामरङ्कुरितः प्रत्याहारेण पुष्पितो ध्यान धारणा समाधिभिः फलपिति, इति साध्नापादः (यो० द० भो० वृ० पृ० 272)

चित्त को किसी एक देशविशेष में स्थिर करने का नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल - सूक्ष्म या बाह्य - आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थान में चित्त को बाँध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाती है।

धारणा = धार्यते इति धारणा। महर्षि पतंजली के अनुसार धारणा का अर्थ – सबीज एवं निर्बीज किसी स्थूल से सूक्ष्म में बुद्धि को निश्चयात्मक एवं विश्वसनीय बनाकर इन्द्रियों एवं मन को निरुद्ध कर लगाना है। ऐसा करने से मन एक देश का आलम्बन लेकर ध्यान एवं समाधि की दिशा में अग्रसर होता है।[1]

महर्षि पतंजली जी ने केवल किसी भी योग योग्य देश में चित्त लगाकर उसे स्थिर करने का निर्देश किया है। उन्होंने किसी विशेष का नामोल्लेख नहीं किया है जिससे पता चलता है कि साधक को जो भी शास्त्र सम्मत है उसी में योग धारणा को निश्चित करना शोभायमान एवं साधक का लक्ष्य बेधक है। जबकि अन्यत्र इसका सूक्ष्म विवेचन मिलता है। चित्त शक्ति से मुक्ति (कैवल्य) प्राप्त की जा सकती है। चित्त का समस्त भटकाव समाप्त कर वह पालतू पशु की भाँति साधक के पूर्ण नियन्त्रण में आ जाता है। इस चित्त को किसी भी एक स्थान पर अपनी इच्छानुसार केन्द्रित किया जा सकता है। वह स्थान नाभि, कण्ठ, हृदय, भृकुटि, नासिकाग्र भाग आदि शरीर के भीतर के स्थान हो सकते हैं

1. तत्र देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (यो० द० पा० 3, सू० 1)

अथवा सूर्य, चन्द्रमा, ध्रुवतारा, देवालय, पर्वतादि बाह्य स्थान भी हो सकते हैं। इन भिन्न-भिन्न स्थानों पर चित्त के ठहराने को ही 'धारणा' कहते हैं। धारणा से मन की शुद्धि होती है तथा उसका भटकाव मिट जाता है।

7. **ध्यान –**

धारणा में चित्त को किसी एक स्थान पर स्थित किया जाता है। जब वह उसमें स्थिर रहकर निरन्तर उसी में एकतार चलता रहता है तो उसी को 'ध्यान' कहते हैं।[1] धारणा (Concentration) और ध्यान (Meditation) में यही अन्तर है। 'ध्यान' में विचारों का प्रवाह बन्द हो जाता है तथा वृत्ति का प्रवाह केवल ध्येय मात्र की तरह ही हो जाता है। अन्य कोई वृत्ति नहीं उठती। धारणा से जहाँ मन की शुद्धि होती है वहाँ ध्यान से अस्मिता ('मैं' पन) का सुधार होता है। ध्यान के स्थिर होने पर साधक का अहंकार गिर जाता है तथा केवल 'हूँ' ही शेष रह जाता है जिसका लय समाधि में होता है।

ध्यान के अभ्यास से साधक का परमतत्त्व श्री हरि में प्रेम हो जाता है, उसका हृदय भक्ति भाव से द्रवित हो जाता है, शरीर में आनन्द अतिरेक के कारण रोमाञ्च होने लगता है, उत्कण्ठा जनित प्रेमाश्रुओं की धारा में बारम्बार स्वदेह को नहलाता है और मछली पकड़ने के कांटे के समान श्री हरि को अपनी ओर आकर्षित करने के साधन रूप अपने

1. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (यो० द० पा० 3, सू० 2)

चित्त को भी धीरे-धीरे ध्येय वस्तु से हटा लेता है इसी को वास्तव में महर्षि पतंजली के अनुसार धारणा के पश्चात् विश्वास से परिपूर्ण होकर एकतत्त्व का चिन्तन करने को कहा है।

8. **समाधि –**

धारणा और ध्यान में कोई स्थान या वस्तु होती है जिस पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है तथा 'चित्त' का प्रवाह उसी ओर निरन्तर चलता रहता है किन्तु इसमें अधिक समय तक स्थिर रहने पर जिसका ध्यान किया जा रहा है उसका स्वरूप शून्य हो जाता है, उसका आभास ही मिट जाता है तथा केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है इस अवस्था को 'समाधि' कहते हैं।[1] ध्यान में ध्याता, ध्यान, ध्येय यह त्रिपुटी रहती है। समाधि में केवल अर्थमात्र वस्तु यानी ध्येय वस्तु ही रहती है, अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय – इन तीनों की एकता-सी हो जाती है।

ऐसी समाधि जब स्थूल पदार्थ में होती है, तब उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थ में होती है तब उसे 'निर्विचार' कहते हैं। यह समाधि सांसारिक पदार्थों में होने से तो सिद्धिप्रद होती है, जो कि अध्यात्मविषय में हानिकर है और यही समाधि ईश्वरविषयक होने से मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये कल्याण चाहने वाले पुरुषों को अपने इष्टदेव परमात्मा के स्वरूप में ही समाधि लगानी चाहिए।

1. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो० द० 3/3)

समाधि परमानन्द है ध्यान रूपी मन्जिल पर चढ़कर बिना विमान के ऊर्ध्व गमन अर्थात् आकाश में स्वच्छन्द विचरण कराने वाली सिद्धि है। जब जहाँ कहीं योगी जाना चाहे इसी पर चढ़कर पहुँच सकता है अर्थात् योग का परम लक्ष्य वेधिका यादि कोई है तो वह समाधि ही है। जिसका फल कैवल्य है।

उपर्युक्त योग के आठों अंगों के भली-भाँति अनुष्ठान से मल और आवरणादि दोषों के क्षय होने पर, विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञान की दीप्ति होती है।[1] और उस विवेक से अविद्या का नाश होकर कैवल्यपद की प्राप्ति अर्थात् आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।

1. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः। (यो० 2/28)

तृतीय अध्याय

श्वेताश्वतरोपनिषद् के परिपेक्ष्य में जीव ब्रह्म एवं योगोपलब्धि

(क) जीव-ब्रह्म

(ख) योगोपलब्धि

श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित जीव–ब्रह्म

प्राणी स्वभाव से सुख को चाहते हैं कोई भी दुःख, क्लेश, चिन्ता, अशान्ति अथवा प्रतिकूलता को नहीं चाहता है परन्तु फिर भी इस संसार में वैचित्र्य ही अथवा विषमता ही दृष्टिगोचर होती है कि इस संसार को चलाने वाली कोई एक परमार्थ सत्ता है।[1] महाभारतादि के अनुसार काल ही जगत् का कारण है।[2] इसी प्रकार चार्वाक मत अवलम्बियों अनुसार स्वभाव ही जगत् का कारण है।[3] कुछ मतावलम्बियों के अनुसार नियति ही विश्व का कारण है क्योंकि सभी पदार्थ किसी नियम के अधीन ही नियमित होकर व्यवहृत हो रहे हैं। जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर ही समुद्र में ज्वारभाटा का आना, वायु का तिर्यक् गति से बहना। पुण्य और पाप का, कर्म का तदनुरूप फल प्राप्त होना आदि। विज्ञानभगवान्[4] एवं उपनिषद् ब्रह्मयोगी निरीश्वरवादियों का मत देते हुए कहते हैं कि किसी आकस्मिक घटना

---

1. (क) जन्माद्यस्य यतः (ब्र० स०, 1.1.2)
   (ख) एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन (त्रिपा० उप० 3.3)
   (ग) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व। (तै० उप० 3.1.1)
2. कालः पचति भूतानि, कालः संहरत जगत्। कालः सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः।। (श्वे० उप० पृ० 35)
3. अपरे स्वभावकारणिकां ब्रुवते – 'केन शुक्लीकृता हंसा, मयूरा केन चित्रिता'। स्वभावनैव – इति (सां० का० गौ० पा० भा० 61)
4. पूर्वपूर्वकल्पेषु जीवैः संचितपुण्यापुण्यानुगुणतया जगत्सर्वज्ञेनेश्वरेणोत्तर कल्पादौ न सृज्यते किंतु बुद्धिमत्कर्तकत्वमन्तरेण यदृच्छया जायत इति निरीश्वराः (श्वे० उप० टी० पा० टि० 2 पृ० 36)

से लाभ अथवा हानि हो जाना, जन्म अथवा मृत्यु हो जाना यदृच्छा है। इनके मतानुसार पूर्व-पूर्व जन्मों में कृत शुभ अथवा अशुभ कर्मों के अनुसार ईश्वर अथवा दैव उसका फल नहीं देता है अपितु बुद्धि और कर्त्ता के बिना ही यदृच्छा के द्वारा जन्म होता है। 'विज्ञानभगवान्' एवं 'उपनिषद्ब्रह्मयोगी' प्रकृतिवादी शाक्त प्रकृति को ही जगत् का कारण मानते हैं।[1] भागवत् गीता[2] में भी भगवान् श्री कृष्ण ऐसा ही मत अभिव्यक्त करते हैं। कुछ दार्शनिक जीव को ही जगत् का कारण मानते हैं क्योंकि जीव के अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार ही तदनुरूप उसके फल-भोग का निर्माण होता हैं जैसा कि उपनिषद् में भी कहा गया है – 'यथा कामः तथा चारी'। प्रायः उपनिषदों के अनुसार अथवा ईश्वरवादियों के अनुसार पुरुष अथवा ईश्वर को ही ऐसा माना जाता है।[3]

इन सभी तथ्यों के परिपेक्ष्य में रहस्य को जानने के लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार ऋषि-मुनियों ने गहन ध्यान-योग का आश्रय लिया और अनुभव किया कि इन सभी (काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, प्रकृति, पुरुष, जीव, योनि) कारणों के संयोग का

---

1. योनिः प्रकृतिः कारणमिति प्रकृतिवादिनः शाक्ताः।
   [illegible]
2. (क) अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
   जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। (भ० गी० 7.6)
   (ख) मम योनिर्महद्ब्रह्म (तदेव 14.3)
3. (क) अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
   ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं, नरकमेव वा।। (सां० का० गौ० पा० भा० 61)
   (ख) कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
   संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।। (श्वे० उप० 1/2)

कारण एवं नियंत्रक एक ही दैवी सत्ता है जिसको ब्रह्म कहते हैं, वह देव अपनी आत्मशक्ति को अपने गुणों द्वारा इस सकल शक्ति को आच्छादित किए हुए हैं।[1] हम कहाँ से आए? कैसे जीते है? और हमारी सत्ता का कौन आश्रय है। सुख-दुःख, नरक-स्वर्ग इत्यादि किसके द्वारा नियमित होते हैं। इन सबका कारण ब्रह्म को ही माना गया है।[2]

स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा होती है कि यह ब्रह्म क्या है? इसकी सत्ता में क्या प्रमाण है? इसकी क्या सामर्थ्य है? यह सगुण है या निर्गुण, साकार है अथवा निराकार, एक है अथवा अनेक है। इसके प्रत्युत्तर में उपनिषदों में बहुत से प्रामाणित तथ्यों को व्यक्त किया गया है। जिनमें से श्वेताश्वरोपनिषद् में विशेष करके ब्रह्म, जीव एवं माया पर विशेष प्रकाश डाला गया है। अन्य शास्त्रों में भी इसकी प्रबल पुष्टि मिली है।

उपनिषदों के अनुसार कहा गया है कि जिससे इस संसार की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न होकर स्थित होती है एवं नाश की अवस्था में, जिसमें सब समाहित हो जाते हैं, वह परमार्थ सत्ता ही ब्रह्म है।[3] यह परम सत्ता स्वतः सिद्ध है, अजर, अमर, अभय, शुद्ध, सत्त,

1. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।। (श्वे० उप० 1.3)
2. किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु (श्वे० उप० मं० 1.1)
3. (क) एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।। नानास्ति किञ्चन (त्रिपा० उप० 3.3) (क० उप० 4.11, बृ० उप० 4.4.19)
   (ख) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यकिञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत् (ऐत० उप० 1.1.1)
   (ग) सा ईक्षांचक्रे स प्राणमसृजत (प्र० उप० 6.3)
   (घ) अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। (भ० गी० 7.6)

चित्त, आनन्द रूप है। देशकाल और आकार इसी की सत्ता से भासित होते हैं, इसलिए यह उनसे परिच्छिन्न नहीं हो सकता अथवा नापा नहीं जा सकता। सभी की सत्ता अथवा प्रकाशन इसी से होता है।[1] प्रमाण स्वयं अपनी सत्ता के लिए प्रमाता पर निर्भर होता है और यह सदा अभिनवअर्थ का ही प्रकाशन करता है। जैसे सिर की छाया को पांव से नहीं लांघा जा सकता उसी प्रकार ब्रह्म का पार नहीं पाया जा सकता।[2] यह मन, वाणी और काय की पहुँच से परे है।[3] शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र महाभाष्य में बताते हैं कि आत्मा और ब्रह्म एक है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसा ही कहा है।[4] आत्मा का अस्तित्व ही ब्रह्म के होने का साक्षात् प्रमाण है। सभी को अपने आत्म-अस्तित्व के सम्बन्ध में विश्वास होता है। कि 'मैं हूँ' कोई भी ऐसा नहीं कहता कि 'मैं नहीं हूँ'।[5] जो कोई भी इसका निराकरण करता है,

---

1\. (क) न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेपा विधतो भान्ति कुतोऽयमग्नि तमेव
भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (श्वे॰ उप॰ 6.14)
(ख) द्रष्टव्य कठ॰ उप॰ 2.2.15 एवं भ॰ गी॰ 15.6

2\. (क) अभिनवार्थप्रकाशनरूपं न प्रमाणवराकमुमयुक्तम् उत्पन्नं वा। (प्र॰ हृ॰ टी॰ 1)
(ख) यतः चैतन्यं विश्वस्य स्वभावः तत एव सत्साधनाय प्रमाणादि वराकम् अनुपयुक्तमः। (शि॰ सूत्र वि॰ 1.1)
तस्यापि स्वप्रकाशचैतन्याधीनसिद्धिकत्वात्।
(ग) स्वपदा स्वशिरश्छायां यदृल्लङ्घ्घि पादोद्देश शिरो
न स्यात्तथेयं वैन्दवी कला।। (प्र॰ हृ॰ टी॰, पृ॰ 10)

3\. अखण्डं सच्चिदानन्दभवाङ्मनसगोचरम्।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये।। (वे॰ सा॰ 1)

(क) आत्मा च ब्रह्म (ब्र॰ सू॰ शां॰ भा॰ 1.1.1)
(ख) ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः (भ॰ गी॰ 15.7)
(ग) अयमात्मा ब्रह्म (बृ॰ उप॰ 2.5.19)
(घ) दृश्यते जलचन्द्रवत् (ब्र॰ बि॰ उप॰ मं॰ 12)

5\. सर्वस्य आत्म प्रत्येति न नाहम (ब्र॰ सू॰ शं॰ भा॰ 1.1.1)

यह उसका भी स्वरूप है।[1]

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि मैत्रेयी के पूछने पर ब्रह्म ऋषि याज्ञवल्क्य बतलाते हैं कि परमार्थ सत्ता ब्रह्म ही है आत्मा ही है। सभी आनन्दों का यही मूल स्रोत है अतएव इसी आत्मा का दर्शन, मनन एवं चिन्तन करना चाहिए।[2]

प्रश्न उत्पन्न होता है कि जीवात्मा इस संसार में क्यों विचरण करती है? जब व्यक्ति अपने आपको पृथक् मानता है ओर उस परमात्मा सर्वशक्तिमान् तथा परमेश्वर को पृथक् मानता है तब संसार में बार-बार विचरण करता है।[3] उपनिषद् के अनुसार उसमें भेद दृष्टि ही दुःख का कारण है। श्वेताश्वतरोपनिषद् बार-बार प्रतिपादित करता है कि भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (संसार) तथा प्रेरित (परमात्मा) इन तीनों का समन्वय ही ब्रह्म है।[4] शंकराचार्य भी यही मानते हैं कि जो ईश्वर और जीव में भेद का दर्शन करता है ऐसा व्यक्ति संसार में भ्रमण करता रहता है। जैसे तिलों मे तेल विद्यमान रहता है और वह तेल यन्त्रनिष्पीड़न द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। आत्मा भी उसी प्रकार सबमें विद्यमान है और

1. (क) यः कः अस्य निराकर्त्ता तत्स्यापि स्वरूपम् अस्ति (बृ० उप०)
(ख) द्रष्टव्य (आ० वि० 1)
2. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञाने नेदं सर्व विदितम् (बृ० उप० 2.4.5)
3. राम कबीरा एक है चीन्हे बिरला कोय।
अन्तर तातो भरम की ताते देखै दोय।। (संत कबीर)
4. एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं वा मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधिं ब्रह्ममेतत्।। (श्वे० उप० 1.12)

उसकी अभिव्यक्ति भी एक विशेष क्रमबद्ध तपस्या द्वारा ही होती है।[1] आत्मा सर्वव्यापी है वह स्वयं प्रकाश और चिदानन्द स्वरूप है। सभी में वह तत्त्व विगदतम रूप में अन्तर्निहित है लेकिन सत्य तथा तप के बिना उसे देखना असम्भव है जैसे दूध में घी सदैव अन्तर्निहित रहता है परन्तु दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र विद्यमान रहती है।[2]

परमात्मा अपनी मायारूपिणी शक्तियों द्वारा सारे लोकों का शासन करता है। यह उत्पत्ति के समय अकेला और प्रादुर्भाव के समय भी अद्वितीय ही रहता है जो यह जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।[3] माया के कारण ही ब्रह्म जगत् के रूप में भासता है। ब्रह्म के सम्यक् ज्ञान के अनन्तर जगत् बाधित हो जाता है और अविद्याजनित कष्टों की शान्ति हो जाती है।[4] संसार की प्रकृति को माया समझना चाहिए और महेश्वर ही मायावी है। उस मायावी परमेश्वर के अवयवों से ही यह सारा संसार ओत-प्रोत है महेश्वर माया का अधिष्ठाता है उसी के अवयवभूत से यह सारा संसार व्याप्त है।[5] संसार सागर को पार करने

1. तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति (तदेव 1.15)
2. सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्।। (तदेव 1.16)
3. (क) य एको जालवाननीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। (श्वे० उप० 3.1)
(ख) सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्–एकोऽहं बहुस्याम्
(छा० उप० 6.12.4)
4. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशहानिः क्षीणैः क्लशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। (श्वे० उप० 1.11)
5. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्
तस्यावयवगतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्। (श्वे० उप० 4.10)

उसकी अभिव्यक्ति भी एक विशेष क्रमबद्ध तपस्या द्वारा ही होती है।[1] आत्मा सर्वव्यापी है ৭৫ स्वयं प्रकाश और चिदानन्द स्वरूप है। सभी में वह तत्त्व विगदतम रूप में अन्तर्निहित है लेकिन सत्य तथा तप के बिना उसे देखना असम्भव है जैसे दूध में घी सदैव अन्तर्निहित रहता है परन्तु दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र विद्यमान रहती है।[2]

परमात्मा अपनी मायारूपिणी शक्तियों द्वारा सारे लोकों का शासन करता है। यह उत्पत्ति के समय अकेला और प्रादुर्भाव के समय भी अद्वितीय ही रहता है जो यह जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।[3] माया के कारण ही ब्रह्म जगत् के रूप में भासता है। ब्रह्म के सम्यक् ज्ञान के अनन्तर जगत् बाधित हो जाता है और अविद्याजनित कष्टों की शान्ति हो जाती है।[4] संसार की प्रकृति को माया समझना चाहिए और महेश्वर ही मायावी है। उस मायावी परमेश्वर के अवयवों से ही यह सारा संसार ओत-प्रोत है महेश्वर माया का अधिष्ठाता है उसी के अवयवभूत से यह सारा संसार व्याप्त है।[5] संसार सागर को पार करने

---

1. तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति (तदेव 1.15)
2. सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविधातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्।। (तदेव 1.16)
3. (क) य एको जालवाननीशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृवास्ते भवन्ति। (श्वे० उप० 3.1)
(ख) सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्—एकोऽहं बहुस्याम्
(छा० उप० 6.12.4)
4. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशहानिः क्षीणैः क्लशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। (श्वे० उप० 1.11)
5. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्
तस्यावयवगतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्। (श्वे० उप० 4.10)

के लिए उस परमब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है। उसको जानने पर मनुष्य जन्म-मृत्यु के जाल से सदा के लिए छूट जाता है। सृष्टि के पूर्व एवं पश्चात् केवल उसी का अस्तित्व रहता है।[1] जैसे धधकती हुई अग्नि से चारों ओर चिंगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है।[2] वही एक आत्मा के रूप में सभी जीवों में व्याप्त है।[3] परमात्मा सर्वव्यापक है।[4] उस परमात्मा को सभी स्थानों पर देखा जा सकता है। संसार में जितने भी मुख, सिर तथा ग्रीवाएं हैं वे सभी उसी परमात्मा की हैं और वह सभी प्राणियों की हृदय रूपी गुफा में विद्यमान है।[5] परमात्मा शिव अर्थात् मंगल स्वरूप भी हैं क्योंकि वह परमात्मा छः (ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धर्म-यश तथा श्री) प्रकार के गुणों के कारण स्वयंप्रकाश, आनन्दरूप तथा मंगलकारी है।[6] सभी में उस परमात्मा का रूप दिखाई देता है

---

1. सदेव सोम्येदमग्र आसांदेकमेवाद्वितीयम् (छा० उप० 6.2.1)
2. (क) यथा सुदीप्तात् पावकाद विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरुपाः
   तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति। (मु० उप० 2.1.1)
   (ख) ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् (ई० उप० मं० 1)
   (ग) आत्मकृते परिणामात् (ब्र० सू० 1.4.26)
3. (क) एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्मव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
   कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (श्वे० उप० 6.11)
   (ख) आत्मैवेदं सर्वम् (छा० उप० 7.25.2)
4. (क) ब्रह्मैवेद सर्वम् (नृ० सिं० उप० 7.3)
   (ख) सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा० उप० 3.14.1)
5. सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः
   सर्वव्यापी स भगवांस्तस्भात्सर्वगतः शिवः (श्वे० उप० 3.11)
6. (क) रसो वै सः। रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवति (तै० उप० 2.7)
   (ख) आनन्दो ब्रहोति व्यजानात् (तै० उप० 3.6.1)

स्त्री-पुरुष, कुमार, कुमारी और वृद्ध सभी उस परमात्मा में विद्यमान है। स्त्री-पुरुष आदि के भेद स्वरूप में परमात्मा ही स्थित है। अपनी माया शक्ति से नाना रूप धारण करके जन्म ग्रहण करते दिखलाई पड़ते हैं।[1] सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही विवर्त है। जिस प्रकार मृत्तिका से बने बर्तन में केवलमात्र नाम के ही भेद हैं और मृत्तिका ही सत्य है, उसी प्रकार ब्रह्म ही सत्य है।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् में परमात्मा तथा जीवात्मा की तुलना दो पक्षियों से की गई है। जीवात्मा संसार रूपी वृक्ष के फल को खाता है तथा परमात्मा जीवात्मा का मात्र दर्शन करता है।[3] गीता में भी ऐसा वर्णन मिलता है। जगत् का कारण होने पर भी ईश्वर केवल लीला के लिए ही प्रवृत्त होता है जैसे आप्तकाम राजा क्रीड़ा-बिहार में विनोदमात्र के लिए तत्पर होता है।[4] जैसे एक ही पृथ्वी अनेक प्रकार के पत्थरों को उत्पन्न करती है, जिनमें अमूल्य हीरे-जवाहरात भी हैं और सामान्य पत्थर भी हैं, इसी तरह एक ही ईश्वर से नानाविध जीवों एवं कार्यों की सृष्टि होती है। शंकरभाष्य में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है।[5]

1. त्वं स्त्रीत्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
   त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः (श्वे० उप० 4.3)
2. यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्थात्
   वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छा० उप० 6.1.4)
3. (क) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।
   (श्वे० उप० 4.6 ऋ० वे० 1.164.20)
   (ख) द्रष्टव्य (मु० उप० 3.1.1)
4. शा० भा० 2 – 1, 33
5. (क) तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूता। (मु० उप० 2.1.7)
   (ख) द्रष्टव्य (शां० भा० 2.1, 23)

वह सत्य, ज्ञान और अनन्त है।[1]

परमात्मा की सत्ता सर्वत्र विद्यमान है उसके नेत्र सभी दिशाओं में विद्यमान हैं, मुख सब ओर है, उसकी भुजाएँ सभी दिशाओं में विद्यमान हैं तथा उसके चरण सब दिशाओं में विद्यमान है उस परमात्मा की शक्ति से ही आकाश और भूमि की उत्पत्ति होती है इसके अतिरिक्त वह पक्षियों को परवों से युक्त करता है।[2] वह परमात्मा अनन्त सिर, अनन्त नेत्र तथा अनन्त चरणों वाला है। वह परमात्मा परिपूर्ण है। परमात्मा का ही रूप सारे संसार में व्याप्त है। पृथ्वी के दस अङ्गुल ऊपर स्थित है। अर्थात् ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से व्याप्त किए हुए हैं।[3]

परमात्मा के हाथ, पाँव, सिर, मुख और कान सर्वत्र विद्यमान है अर्थात् संसार में जितने भी हाथ, पाँव, आँखें, सिर, मुख और कान हैं वे सभी उस परमात्मा के हैं, वह सभी वस्तुओं में ओत-प्रोत है सभी अच्छी वस्तुओं में समान रूप से व्याप्त है।[4] गीता में भी ऐसा भाव प्रकट हुआ है। परब्रह्म परमात्मा चलता भी है तथा नहीं भी चलता है, अति दूर भी है

1. सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म। (तै० उप० 2.1.2)
2. (क) विश्वतश्चक्षुरुत विश्वोमुखी विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
   सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः (श्वे० उप० 3.3)
   (ख) द्रष्टव्य भ० गी० 13-13
3. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
   स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् (श्वे० उप० 3.14) (ऋ० सू० पु० सू० 1)
4. (क) सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
   सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति (श्वे० उप० 3.16)
   (ख) यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
   तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसंभवम् (भ० गी० 10.41)

तथा अनि निकट भी है वह इस सम्पूर्ण चराचर संसार के भीतर परिपूर्ण रूप से विद्यमान है और सम्पूर्ण चराचर स्थावर जंगमादि जगत् के बाहिर भी विद्यमान है।[1] मुण्डकोपनिषद् में भी ऐसा ही वर्णन है कि परब्रह्म हर दिशा में विद्यमान है।[2]

योगोपलब्धि

I. योग की आवश्यकता :-

उपनिषद् की विचारधारा के अनुसार यह तथ्य एकदम स्पष्ट है कि जीव और ब्रह्म में पारमार्थिक रूप से कोई भेद नहीं है। जीव माया के कारण अथवा अज्ञान के प्रभाव से अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को नहीं पहचानता। जैसे कि एक सिंह-शावक भेड़ों के झुण्ड में पड़ जाने से स्वयं को भेड़ समझते हुए तद्वत भीरु स्वभाव को अपना लेता है। कुत्ते, बिल्ली अथवा किसी भी हिंसक जानवर से उनकी तरह ही डरता है, भागता है अथवा महाकष्ट का अनुभव करता है। परन्तु यदि दैववश उसका किसी शेर से सामना हो जाता है और वह उसकी दयनीय स्थिति को भांपकर उसे पकड़कर नदी के किनारे ले जाता है ओर उसको अपना और उसका प्रतिबिम्ब दिखाता है और इस प्रकार उसे बोध करवाता है कि उसमें और मुझमें कोई भेद नहीं है केवल भ्रान्ति के कारण भेड़ों की संगतिवश अपने ऐश्वर्य

---

1. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः (ई० उप० मं० 5)
२. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। (मु० उप० 2.3.11)

एवं सामर्थ्य को भूलकर कष्ट पा रहा था। इस प्रकार वह सिंह शावक पुनः अपने ऐश्वर्य एवं सामर्थ्य के साथ-साथ स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। इसी प्रकार जीव भी अविद्या के चंगुल में फंसकर अपने पारमार्थिक स्वरूप जो कि – सच्चिदानन्दघन रूप है, शुद्ध-बुद्ध मुक्त है, चैतन्य स्वरूप है, आवागमन एवं जरामरण के बन्धन से रहित है, अजर, अमर तथा अभय है। – को भूलकर कष्ट पाता है। इसलिए इस बात की परम आवश्यकता रहती है कि वह अपने यथार्थ स्वरूप को किस प्रकार पुनः अनुभव कर सकता है। जन्म-मरण के एवं अभावों, क्लेशों, चिन्ताओं एवं त्रिविध तापों से मुक्ति पा सकता है। हमारे पूर्वज महान् एवं विद्वान दार्शनिक ऋषि-मुनियों ने इस समस्या पर गूढ़ चिन्तन किया। अपने तप, योग एवं ईश्वर भक्ति के प्रभाव से इस रहस्य का उद्घाटन किया और जाना कि ब्रह्म-स्वरूप की पहचान का योग उत्तम एवं सरल मार्ग है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस दिव्य योग के सम्बन्ध में बतलाया है कि यह सनातन योग है और ऐसी बात नहीं है कि आज कुछ नवीन बताया जा रहा है। केवल काल, वातावरण एवं परिस्थिति के प्रभाववश इसका लोप एवं अविर्भाव होता रहता है।[1] सबसे पहले उन्होंने इस योग को सूर्य भगवान् को प्रदान किया उनकी परम्परा से आगे मनु

---

1. स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।। (भ० गी० 4-2/3)

एवं राजर्षियों ने इसको जाना। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसी परम तथ्य को बड़े ही सरल एवं तर्कसंगत ढंग से प्रकट किया गया है।[1]

II. योग का वातावरण :-

सर्वप्रथम साधक को अपने मन, वाणी एवं काय की शुद्धि करके अपने मन को उस दिव्य-ज्योति परब्रह्म परमेश्वर में एकाग्र करना चाहिए।[2] जिससे उस सविता की सद्प्रेरणा से अज्ञानरूपी अंधकार छंट जाए और परमार्थ चिन्तन में मन लगे। पातंजल योग में भी दो प्रकार के योगियों का उल्लेख मिलता है। एक "युञ्जान" और दूसरा "युक्त"। "युञ्जान" वह योगी होता है जो अभी संसार बन्धनों से पूर्णतः मुक्त नहीं होता और ईश्वर के चिन्तन में मन लगाता है। यह योग की प्रारम्भिक अवस्था मानी जाती है, जिसमें एक तरफ अज्ञानतम दूर होता है और दूसरी ओर आत्मप्रकट की ओर मन अग्रसर हो रहा होता है। दूसरी ओर "युक्त" उस योगी को कहते हैं जो ब्रह्म के साथ सहजतया ऐकात्म्य का अनुभव कर रहा होता है। इस प्रकार योग की प्रथम सीढ़ी युञ्जान की अवस्था ही है

1.
(क) इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। (श्वे० उप० दी० पृ० 156)
(ख) द्रष्टव्य (भ० गी० 4.1)

2.
(क) युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। (श्वे० उप० 2.4)
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।।
(ख) युजे वां ब्रह्म.... (श्वे० उप० 2.5)

जिसकी ओर श्वेताश्वतरोपनिषद् में स्पष्ट संकेत मिलता है।[1] इसके अतिरिक्त यही वर्णन ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता, वाजसनेयी संहिता, अथर्ववेद तथा शतपथ ब्राह्मण में भी आया है।

प्रसिद्ध टीकाकार नारायण ने इसकी दीपिका में कहा है कि सूर्य देवता की अग्नि के आधार चक्र में स्थित त्रिकोणस्य ज्योति के तेज का अवलोकन कर अर्थात् वायु के अवरोध द्वारा पैरों और घुटनों से लेकर उत्तरोत्तर पंचमहाभूतों को स्थापन करना अर्थात् उनको ऊर्ध्वमुखी करना तथा पुनः वायु के द्वारा अग्नि को प्रदीप्त कर कुण्डलिनी का अवरोध करना योग का प्रथम सोपान है।[2]

पुनः युक्त योगी के सम्बन्ध में कहा गया है कि सविता (प्रेरक, ब्रह्म अथवा सद्‌गुरु) के अनुग्रह से प्रेरित हुआ योगी सम्यक् दर्शन द्वारा अपने मन को ब्रह्म में लगाता है।[3] और इस प्रकार सविता की प्रेरणा से शुभकर्म करता हुआ एवं मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके योग शक्ति से युक्त योगी परमात्मा की प्राप्ति करता है।[4]

1. युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत।। (श्वे० उप० 2.1)
द्रष्टव्य (ऋ० वे० 10.13.1, तै० उप० 4.1.1.5, वाज० सं० 11.5
अथ० वे० 18.3.39, शत० ब्रा० 6.3.1.13)
2. श्वे० उप० दी० पृ० 155
3. युक्त्वायेति मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्। (श्वे० उप० 2.3)
4. युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
सुवर्गेयाय शक्त्या। (श्वे० उप० 2.2)

इससे स्पष्ट होता है कि ईश्वरप्राप्ति के लिए योग-साधना करने वाले साधक को सर्वप्रथम बहिर्मुखता से अन्तर्मुखी होना चाहिए।[1] धर्मराज ने नचिकेता को आत्मयोग का वर्णन करते हुए इसी तथ्य का प्रकटीकरण किया है।[2]

उपनिषदों में मन को वश में करने का उपदेश दिया गया है जैसे कि कहावत भी है - "मन के हारे हार है, मन के जीते जीत"।[3] योग-प्राप्ति के लिए मन को वश में करना अनिवार्य है जैसे कि पातंजल-योग में भी कहा गया है कि चित्त (मन) की वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना (निरोध) 'योग' है।[4] गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को मन को वश में करने के लिए बल देते हैं उनका मानना है कि जिस प्रकार सारथी पर नियन्त्रण ढीला होने से रथवान् कभी भी धोखा खा सकता है क्योंकि सारथी के अनियन्त्रित रहने से घोड़े बेरोक-टोक मार्ग में भटक सकते हैं उसी प्रकार बुद्धिरूपी रथवान् का मनरूपी सारथी पर नियन्त्रण न रहने से इन्द्रिय रूपी घोड़े विषयरूपी भोगों में भटक सकते हैं जिससे अपने परमार्थ स्वरूप से गिरकर जीव संसाररूपी भंवर में फंस जाता है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद्

---

1. यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वतिशोकः। (श्वे० उप० 2.14)
२. पराश्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मापराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। (कंठ० उप० 2.1.1)
३. संत गुरुनानक
४. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (पां० यो० द० 1.2)

में भी मन के सम्यक् प्रकार से नियन्त्रण की ओर संकेत किया गया है।[1] इस मन के नियन्त्रण के लिए जैसे गीता में अभ्यास और वैराग्य के करने की बात कही गई है।[2] इसी प्रकार महर्षि पातनजलि ने भी चित्त को अभ्यास और वैराग्य से वश में करने की बात कही है।[3]

श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार मूलाधार में प्रसुप्त सर्पवत् ज्योतिष स्वरूप कुण्डलनीय शक्ति के विमर्शन से अज्ञानरूपी तम दूर होने पर मन सम्यक् प्रकार से वश में हो जाता है और आत्म-स्वरूप आलौकिक हो जाता है। गीता[4] में भी इसी प्रकार का मत मिलता है। इसी प्रकार प्राणायाम करने से वायु का नियन्त्रण होने से भी चित्त नियन्त्रित हो जाता है ओर इस प्रकार आत्मस्वरूप के अनुभव के विमर्शन से अमृतरूपी सोमरस की अनुभूति का आनन्द लेने से मन संयमित हो जाता है अर्थात् विषय-वासना की ओर नहीं भागता।[5]

---

1. (क) तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
   वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (भ० गी० 2.61)
   (ख) दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वानन्मनोधारयेताप्रमत्तः। (श्वे० उप० 2.9)
2. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
   अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। (भ० गी० 6-35)
3. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (पां० यो० द० 1.12)
4. अहमज्ञानजं तमः नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेनभास्वता। (गी० 10.11)
5. अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
   सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः।। (श्वे० उप० 2.6)

III. **योग – स्थान : –**

योग – प्राप्ति के लिए बाह्य माध्यम के रूप में बतलाते हैं कि योग की साधना ऐसे स्थान पर करनी चाहिए जो समतल हो, पवित्र एवं शुद्ध हो, कंकर, पत्थर एवं अग्नि तथा वायु के प्रकोप से रहित होना चाहिए इसी प्रकार कोलाहल इत्यादि वहाँ नहीं होना चाहिए, जल आदि के भय से रहित होना चाहिए। देखने में सर्वथा प्राकृत सौन्दर्य से सम्पन्न एवं मन के अनुकूल होना चाहिए। अर्थात् जहाँ मन को शान्ति मिले, आँखों को किसी प्रकार पीड़ा देने वाला नहीं होना चाहिए, वह स्थान वायु से रहित होना चाहिए और ऐसा स्थान पर्वत आदि की गुफा, नदी किनारे में सुरक्षित स्थल अथवा कोई भी हिंसक पशुओं अथवा सर्प, चींटी इत्यादि के आतंक से रहित, सरम्य स्थान होना चाहिए।[1] गीता[2] में भी ऐसा वर्णन मिलता है।

IV. **योग – साधना : –**

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि साधक को शरीर को समतल रखते हुए सिर, गर्दन तथा वक्षःस्थल को एक साथ सीधा रखना चाहिए इसके पश्चात् इन्द्रियों सहित मन को हृदय में समाविष्ट करके औंकार रूपी नौका का आश्रयण करते हुए सभी प्रकार के

---

1. समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्।। (श्वे० उप० 2.10)
2. शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्। (भ० गी० 6–11)

भयावह भव- क्लेशरूपी जल-प्रवाहों को पार करना चाहिए। तात्पर्य है कि जिस प्रकार असीम सागर को पार करने के लिए बिना नौका के और सफल नाभिक के बिना काम नहीं चलता, उसी प्रकार अनन्त प्रवाह एवं विविध क्लेशों से युक्त संसार की मोह, माया, ममता से पार उतरने के लिए ब्रह्म के मन्त्र अर्थात प्रणव (ओ३म्) का जप अत्यन्त आवश्यक है।[1]

इस योग-साधना के मध्य में आहार एवं विहार युक्त (सम्यक्) रहना चाहिए। गीता में भी भगवान् अर्जुन को यही समझाते हैं कि जिस साधक का आहार एवं विहार सम्यक् हो, सम्यक् चेष्टाएँ एवं सम्यक् कर्म करने वाला हो वही योग की प्राप्ति करता है एवं क्लेशों से छुटकारा पाता है।[2] साधक को प्राणायाम करने से जब प्राण क्षीण हो जाए तो उन्हें नासिका के द्वारा बाहर निकालना चाहिए इस प्रकार दुष्ट अश्व से युक्त रथ के समान सावधानी से मन का नियन्त्रण करना चाहिए[3] अर्थात् पूर्व के माध्यम से प्राणवायु को बाईं नासिका (इड़ा, चन्द्रमुखी) से अन्दर खींचना चाहिए और कुम्भक के माध्यम से नासिका पुटों में रोककर क्षीण करना चाहिए तत्पश्चात् रेचक् के माध्यम से दाईं नासिका पुट

1. (क) त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि। (श्वे० उप० 2.8)

(ख) सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। (भ० गी० 8-12/13)

2. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्पप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (भ० गी० 6.17)

3. प्राणा-प्रपोडयेह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः (श्वे० उप० 2.9)

(पिंगला, सूर्य नाड़ी) से प्राणवायु को बाहर निकालना चाहिए इस प्रकार बार-बार अभ्यास से प्राणवायु का अवरोध होने से मन का नियन्त्रण हो जाता है और इस प्रकार अभ्यास से योग-सिद्धि हो जाती है।

V. योग का वातावरण :-

योग-अभ्यास में सर्वप्रथम कुहरे की अनुभूति होती है इसके पश्चात् धुआँ दिखाई पड़ता है। इसके पश्चात् देदीप्यमान सूर्य की अनुभूति होती है और पुनः वायु का अनुभव होता है। तत्पश्चात् अग्नि, जुगनू एवं विद्युत क्रमशः प्रतीत होते हैं। इन प्रारम्भिक अनुभूतियों के पश्चात् ही आत्मा (ब्रह्म) का साक्षात्कार होता है।[1] इसी प्रकार योग-साधना के मध्य में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों के योग-गुणों के प्रकट होने पर साधक को रोग, बुढ़ापा एवं मृत्यु से छुटकारा प्राप्त हो जाता है और उसका शरीर योगाग्निमय हो जाता है।[2] शंकराचार्य के अनुसार योग-गुण प्रवृत्ति से योगी को गन्धवती पृथ्वी के गुण-गन्ध का अनुभव होता है तथा उसको जल से रस की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् योग की चार प्रवृत्तियाँ कही गई हैं -

---

1. नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
   एतानि रूपाणि पुरः सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे। (श्वे० उप० 2.11)
2. पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मक योगगुणे प्रवृत्ते।
   न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्। (श्वे० उप० 2.12)

ज्योतिषमती, म्पर्शवती और रसवती तथा गन्धवती। इन योग प्रवृत्तियों में से यदि एक की भी प्रवृन्ति हो जाए तो योगिजन उस साधक को योग में प्रवृत्त हुआ बतलाते हैं। पातंजल योगसूत्रों में भी ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है।[1]

योग-साधना के द्वारा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया जाता है परन्तु कुछ आवश्यक तत्वों के बिना यह सम्भव नहीं है। जिस प्रकार किसी चाँदी, सोने या किसी देदीप्यमान पदार्थ में मिट्टी लगी होती है तो उसका वास्तविक रूप दिखलाई नहीं पड़ता है, उसी प्रकार अविद्या आदि के विनाश के पश्चात् जब साधक आत्मतत्त्व का दर्शन करता है तब वह कृतार्थ होकर शोक को भी पार कर लेता है।[2]

ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करने का साधन आत्मतत्त्व ही है और जब आत्मतत्त्व स्वयं प्रकाशमान दीपक के समान भासित होने लगता है तब ब्रह्मतत्त्व को भी भली-भाँति देखा जा सकता है। जैसे दीपक को प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकार के किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व भी स्वयं

---

1. (क) ज्योतिष्मती स्पर्शवती तथा रसवती परा।
गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवृत्तयः।।
आसां योगप्रवृत्तीनां यद्येकापि प्रवर्तते।
प्रवृत्तयोगं तं प्राहुर्योगिनो योगचिन्तकाः।। (श्वे० उप० पृ० 107)
(ख) विषयवती वा प्रवृतिरूत्पन्ना मनसाः स्थिति निबन्धनी। (पा० यो० सू० 1.35)
2. यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः। (श्वे० प० 2.14)

प्रकाशमान है। परमात्मा को मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता अपितु आत्मा के माध्यम से ही जाना जा सकता है। उस देव को जानकर जीव अविद्यादि समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[1]

1. यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (श्वे० उप० 2.15)

चतुर्थ अध्याय

क्षेमराज का जीवन परिचय एवं कृतियाँ

(क) क्षेमराज का जीवन परिचय

(ख) क्षेमराज की कृतियाँ

राजानक क्षेमराजाचार्य

जीवन परिचय :-

कश्मीर ऋषि-मुनि एवं पीर-पैग़म्बरों की धरती मानी जाती है यहाँ के नदी, पर्वत, घाटी, वातावरण, प्राकृतिक सौन्दर्य अपनी ही छटा लिए हुए है जिससे इसे धरती का स्वर्ग कहा जाता है। यहाँ का विविध प्रकार का आधिकारिक एवं विशद साहित्य जगत् प्रसिद्ध रहा है विशेषकर कश्मीर शैव दर्शन का साहित्य एवं उसके लेखक अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं। इन्हीं दार्शनिकों, लेखकों एवं टीकाकारों में राजानक क्षेमराज का नाम अद्वितीय है।

इन्होंने अपने जीवन अथवा वंश परम्परा के सम्बन्ध में किसी भी अपनी कृति में कोई भी संकेत नहीं दिया है। अपना नाम "क्षेम" अथवा राजानक "क्षेमराज" के रूप में सम्बोधित करते हैं और माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त का शिष्य बतलाते हैं।[1] बहुत सम्भव है कि इन्होंने अपने शिव के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण इन सांसारिक सम्बन्धों के विषय में कुछ लिखना रूचिकर न समझा हो। वैसे इस दर्शन के प्रायः बहुत से आचार्यों ने अपने सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं दी है, परन्तु इसे एक प्रथा कहने की अपेक्षा उच्च

---

1. (क) कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिवनवगुप्तपादपद् मोपजीविनः श्रीमतो राजानक क्षेमराजाचार्यस्य। (प्र०हृ०, अन्तेः)

   (ख) शाङ्करोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधेः।
   क्षेमेणोद्‌ध्रियते सारः संसारविषशान्तये।। (प्र०हृ० मं० श्लो० 2)

आध्यात्मिक दृष्टिकोण सम्पन्नता निःस्वार्थता और एक परमार्थ सत्य के निरूपण में ही संलग्नता कहना उचित प्रतीन होता है अभिनवगुप्त ने अपनी वंश-परम्परा के वर्णन में अपने परम विद्वान और भक्त चाचा "वामनगुप्त" का उल्लेख किया है, जो सम्भवतः इनके गुरुओं में से भी एक थे।[1] उनके पुत्र ओर इनके चचेरे भाई क्षेम, उत्पल, अभिनव, चक्रम और पद्मगुप्त थे।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि यही "क्षेम" क्षेमराज के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले और अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य थे, क्योंकि इन्होंने अपने सभी चचेरे भाईयों को शिव-भक्त और विद्वान् बतलाया हैं। इस प्रकार आचार्य क्षेमराज के पिता का नाम "वामनगुप्त" था। इसके अतिरिक्त इनकी वंशावली वही रही होगी, जो "अभिनवगुप्त" की? सम्भवतया अभिनवगुप्त द्वारा इसके पहले ही कहे जाने के कारण इन्होंने पुनरुक्ति करनी अच्छी न मानी हो। अपनी विद्वत्ता, योग्यता और शिवशक्ति-परायणता सिद्धि के प्रभाव से ही यह अभिनवगुप्त के उत्तराधिकारी और त्र्यम्बक मठिका के गुरु पद से सुशोभित हुये थे।[3] इनके योग्य शिष्यों में योगराज और केरल देश निवासी वरदराज का नाम

---

1. तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितव्यस्य वामनगुप्तस्य लोकोतराणि चरितानि न लोक एव, सम्मन्यत यदि किमत्र बदाम नाम। यत्वत्र हासमुखरस्तत्वममुष्य तेन, पाश्वोंपपीऽमिह को न विजाहसीति। (अभि०मा०भा० 1, 297)
2. अन्ये पितृव्यतनयाः शिवभक्तिशुभाः क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपद्मगुप्ताः
ते सम्पदं तुपमलतं शुम्भुसेवासम्पूरितं स्वहृदयं हृदि भावयन्त।।
(तं०आ०आह० 37, श्लो० 67, भा० 12)
3. श्रीकण्ठं वसुमन्तं (वसुगुप्तं) सोमानन्दं तथोत्पलाचार्यम्।
लक्ष्मणमभिनवगुप्तं बन्दे श्री क्षेमराजं च।। (शा०ति०टी०, श्लो० 3, पृ० 7)

मुख्य रूप से आता है। योगराज अनुसार क्षेमराज ने महेश्वर की साक्षात् अनुभूति प्राप्त की थी।[1] योगराज सम्भवतया कश्मीर का ही निवासी था। यह एक विरक्त तपस्वी, पूर्णाद्वैती था, जो झेहलम के किनारे कुटिया में निवास करता हुआ शिव भक्ति में निमग्न रहता था।[2]

क्षेमराज ने अपने एक शिष्य "शूर" का भी नाम लिया है, जिसकी प्रार्थना पर इन्होंने "स्पन्दनिर्णय" की रचना की थी।[3] इनके शिष्य भी इनके समान ही योग्य और विद्वान् थे। क्षेमराज न केवल एक उच्चकोटि के अद्वैतशैवी साधक थे, प्रत्युत् एक धुरन्धर लेखक भी थे। अपने गुरु की ही भाँति इनको भी सभी धर्मों, मतों एवं आचार्यों की शिक्षाओं का पूर्ण ज्ञान था। इन्होंने अन्य मतों के प्रति समन्वयवादी दृष्टिकोण को अपनाया था[4] और केवल उनके अमान्य अथवा तर्कहीन तथ्यों का ही खण्डन किया। परन्तु ऐसा करते हुये भी उनकी निम्न स्थितियों के क्रमशः उत्कर्ष को प्राप्त करने पर पूर्ण अद्वैतमयी अवस्था में परशक्तिपात से स्थित होना माना है। तात्पर्य यह है कि उनके मत में समस्त दर्शनों की स्थितियां आत्मा की नट की तरह स्वेच्छा से अवगृहीत विविध कृत्रिम भूमिकायें मात्र हैं। उनके कथनानुसार चार्वाक चैतन्य से संयुक्त "शरीर" को ही आत्मा मानते हैं

1. श्रीमतः क्षेमराजस्य सदगुवाम्नायशालिनः।
साक्षात्कृतमहेशस्य तस्यान्तेवासिना मया।। (प०सा०वि०, अन्ते)
2. श्रीवितस्तापुरीधाम्ना विरक्तेन तपस्विना।
विवृतिर्योगनाम्नेयं पूर्णाद्वयमयी कृता।। (प०सा०वि०, पृ० 199)
3. शूरनाम्नः स्वशिष्यस्य प्रार्थनाप्तिरसेन तत्।
निर्णीतं क्षेमराजेन स्फारान्निजगुरोर्गुरोः।। (स्प०नि०, श्लो० 4, पृ० 77)
4. तदभूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः। (प्र०हृ०सू० 8)

न्याय-वैशेषिक ज्ञानादि गुण समूहों के प्रतिपादकप्राय: "बुद्धि को जीवित और मृत्यु की दशा में उसके अभाव से शून्य प्रामय को ही आत्मा मानते हैं। अहंभाव की प्रतीति से अनुभूत होने वाले और सुख-दु:खादि सीमित उपाधियों से आच्छादित होने वाले इस प्रकार के बुद्धि तन्त्व को ही मीमांसक भी आत्मा मानते हैं। ज्ञान के सतत प्रवाह को ही आत्मा मानने वाले सौगत भी बुद्धि व्यापार तक ही सीमित होते हैं। कुछ वेदान्ती प्राण को ही आत्मा मानते हैं। कुछ वेदान्ती सृष्टि पूर्व सब कुछ असत् मानने से 'अभाव' को ही ब्रह्म मानने से शून्य दशा में ही अवस्थित हैं माध्यामिक बौद्ध भी ऐसे ही विचार रखने से शून्य को ही ब्रह्म मानने वाले हैं। "भगवान् वासुदेव को ही उत्कृष्ट प्रकृति एवं जीव को उसकी चिन्गारी मानने वाले पाञ्चरात्र इस प्रकार जीव को परा प्रकृति का परिणाम मानने से "अव्यक्त तन्त्व" में ही ठहरे हुये हैं। सांख्य-योग प्राय: कर्तृत्वहीन और बोधरूपमात्र आत्म तत्त्व मानने से विज्ञानाकाल दशा में स्थित होते हैं। पूर्व में सत् का ही अस्तित्व मानने वाले कुछ वेदान्ती ज्ञान प्रधानता वाले ईश्वरतत्त्व को ही सर्वोच्च मानते हैं। शब्द ब्रह्ममय पश्यन्ती रूप को आत्मा मानने वाले वैयाकरण इच्छाप्रधान सदाशिव दशा में ही अवस्थित हैं, क्योंकि पश्यन्ती इच्छा की भाँति अव्यक्त शब्द का उन्मेषमात्र होती है। इसी प्रकार अन्य दर्शन भी त्रिक् दर्शन के एक ही अंश में स्थित अनुमानित हो सकते हैं। तान्त्रिक विश्वात्तीर्ण और कुलादि आत्माओं में विश्वमय को आत्म तत्त्व मानते हैं। परन्तु त्रिकादि दर्शनविद्

आत्मतत्त्व को विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों रूपों वाला मानते हैं। इस प्रकार इनके मत में अद्वैत शैव दर्शन ही पूर्ण है। अर्थात् आत्मा के यथार्थ ज्ञान का एकदम सीधा प्रतिपादक है। दूसरे क्रमशः विकसित होते हुये साधक को निम्न स्तर से उच्चतम स्तर पर पहुँचाने वाले विविध विश्रान्ति स्थल हैं, क्योंकि शरीरादि भी आत्मा के ही स्वेचछा से गृहीत संकुचित रूपमात्र होते हैं। आत्मा के विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय रूप का पूर्णज्ञान परशक्तिपात से ही सम्भव है।[1] इस प्रकार कहा जा सकता है कि क्षेमराज आध्यात्मिकता की अत्युत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो चुके थे। उन्होंने जो भी कुछ लिखा उसमें आत्मानुभूति, सतर्क, शास्त्र ज्ञान एवं गुरु कृपा का सम्मिश्रण था। इसलिये उनकी कृतियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यह शास्त्रकार और भाष्कार भी थे। परन्तु दोनों रूपों में इनका लक्ष्य अद्वैतशैव के गूढ़ रहस्यों का सरलीकरण ही रहा है, भले ही वे तथ्य शास्त्र प्रतिपादित हो अथवा गुरुज्ञान की परम्परा से प्राप्त हो।[2] सर्वजन कल्याण, संसार के द्वैतभाव की शान्ति और मान्यवर

---

1. [illegible] चार्वाकादिदर्शनाना स्थितयः सिद्धान्ताः तस्य एतस्य आत्मनो नटस्यव स्वेच्छावगृहीताः कृत्रिमा भूमिका......... एवं एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातन्त्र्यावभासिताः सर्वा इमा भूमिकाः स्वातन्त्र्यपच्छादनोन्मीलनतारेतम्भेदिताः। अत एक एव एतावद्व्याप्तिक आत्मा। देहादिषु भूमिषु पूर्वपूर्वपमातृव्याप्तिसारता प्रथायामपि उक्तरूपां महाव्याप्ति परंशक्तिपातं बिना न लभन्ते। (प्र०हृ०, पृ० 99)

2. (क) इह ये सुकुमारमतयो कृततीक्ष्णतर्कशास्त्रपरिश्रमाः शक्तिपातोन्मिषित् पारमेश्वरसमावेशाभिलौषिणः कतिचित् भक्ति भाजः तेषाम् ईश्वर प्रत्यभिज्ञोपदेशतत्त्वं मनाक् उन्मील्यते। (प्र०हृ०, पृ० 66)

(ख) येषां वृतश्शङ्करशक्तिपातो ये नम्यासात् तीक्ष्णयुक्तिष्वयोग्याः। शक्ता ज्ञातुं नेश्वरप्रतयभिज्ञामुक्तस्तेषामेष तत्वोपदेशः।। (प्र०हृ०, पृ० 116)



गुरुओं के यथार्थज्ञान को सुगम बनाकर बोधगम्य बनाना – फलतः इस सिद्ध मत का प्रचार-प्रसार करना इनकी मुख्य विशेषतायें रही हैं, जिनको माध्यम से इन्होंने एक आत्म-परमेश्वर के प्रत्यभिज्ञान पर बल दिया है। यह न केवल प्रत्यभिज्ञा, अपितु क्रम, कौल, स्पन्द आदि अन्य अद्वैत शैवी मतों को भी प्रतिपादक रहे हैं। इनका महान् व्यक्तित्व न केवल शैवी साधनाओं का ही सम्यक् विज्ञाता, प्रत्युत् सर्वशास्त्र विशारद भी था। यह शिव की उत्कृष्टता के व्याख्याता होने पर भी और शक्ति को इनसे अभिन्न मानते हुये भी, पराशक्ति की स्वातन्त्रय महिमा से अधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनकी कृतियों में शक्ति का ही अधिक प्रभाव झलकता है।[1]

इन्होंने तन्त्रों को भी अद्वैत परक व्याख्या की है। साहित्य में इनकी रुचि दिखाई नहीं देती है, इनका मुख्य कारण शिवरस में ही रसित रहना प्रतीत होता है। ऐसे महान् योगी का स्थिति काल उल्लासित न होने पर भी इनके गुरु अभिनवगुप्त के समयानुसार 925-1025 ई०पू० के समीप अनुमानतः किया जा सकता है। यह एक बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न सिद्ध महापुरुष थे, जिनकी रचनाएँ भी अद्वितीय स्थान रखती हैं।

---

1. (क) चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। (प्र०हृ०, सू० 1)
(ख) देहप्राणसुखादिभिः प्रतिकूलं संरुध्यमानो जनः। पूर्णानन्दधनामिमां न चिनुते महेश्वरीं स्वां चितिम्। मध्येबोध्क्षुधाब्धि विश्वमभितस्तन्फेन पिण्डोपमं। यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एक शिवः।। (प्र०हृ०, 143)

क्षेमराज की कृतियाँ :-

क्षेमराज की कृतियों को निम्नलिखित वर्गीकरण के आधार पर बांटा जा सकता है: -

1. **प्रत्यभिज्ञापरक रचनाएँ :-**

(क) प्रत्यभिज्ञाहृदयम् :-

क्षेमराज के इस ग्रन्थ की उत्कृष्टता सर्वमान्य है। जिस प्रकार शंकर अद्वैतशैवदर्शन में सदानन्द के वेदान्तसार का महत्त्व है, उसी प्रकार काश्मीर अद्वैतशैवदर्शन में क्षेमराज की प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का महत्त्व है। स्वयं क्षेमराज ने इस पर वृत्ति भी लिखी है। धर्म एवं दर्शन के अद्भुत सामञ्जस्य की स्थापना इस ग्रन्थ में हुई है। बीस कारिकाओं में स्वातन्त्र्य तथा विश्व नानात्व के सिद्धान्त की चर्चा हुई है। यह कृति प्रत्यभिज्ञादर्शन के सारभूत ग्रन्थ के रूप में ग्राह्य है। आगम शास्त्र के सारभूत प्रत्यभिज्ञारूपी महासमुद्र का सार रूप यह ग्रन्थ भवविष को शान्त करने वाला है।[1]

शक्तिपात को प्राप्त करने वाले किन्तु अभ्यास के अभाव के कारण प्रखर कार्तिक चिन्तन में असमर्थ एवं ईश्वर की प्रत्यभिज्ञा में अशक्त जनों के लिए इसमें तत्त्व का उपदेश मिलता है।[2]

---

1. शाङ्करोपनिषत्सार प्रत्यभिज्ञा महोदधेः।
   क्षेमेणोद्ध्रियतेसारः संसारविषशान्तये।। (प्र०हृ०, श्लो० 2)
2. येषां वृत्तः शांकरः शक्तिपातो, येउनभ्यासात्तीक्ष्णयुक्तिष्व योग्याः।
   शक्ता ज्ञातुं नश्वरप्रत्यभिज्ञा, मुक्तंस्तेषामेष तत्त्वोपदेशः।। (प्र०हृ०, पु०)

ग्रन्थ के प्रारम्भ में पंचकृत्यकारी चिदानन्द धनस्वरूप शिव के प्रति नमस्रोक्ति है।[1] शिव चिति यथा ही का स्वातन्त्र्य ही विश्व की सिद्धि में हेतु है।[2]

चिति में विश्व का उन्मीलन दर्पण में नगर के समान माना गया है।[3] चिति संकोच ही विश्वात्मक चेतन के संकोच में हेतु है।[4] खेचरी, गोचरी, दिग्चरी तथा भूचरी आदि के रूप में चिति का स्फुरण होता है।[5]

विश्व का ग्रसन करने से चिति वह्नि सदृश है।[6] चितिलाभ होने पर चिति विश्व को आत्मसात् कर लेती है।[7] तुरीया चितशक्ति की अवस्था में स्वाधिष्ठित वस्तुएँ आत्मसात् हो जाती हैं।[8] ग्राह्यग्राहक में भेद का अभाव है तथा परमशिव का ही अभिनवरूप में विश्वरूप में स्फुरण होता है।[9] शिव भट्टारक की ही द्विरूपता, त्रिभयता, चतुरात्मकता तथा सप्तपंचक स्वभावरूपता बतलाई गई है।[10] सभी दार्शनिक सिद्धान्त में एक आत्मा की ही

---

1. नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्य विधायिने।
   चिदानन्दधनस्वात्मपरमार्थ वाभसिनं।। (प्र०हृ०, श्लो० 1)
2. चितिः स्वतन्त्रा विश्व सिद्धि हेतुः। (प्र०हृ०, श्लो० 1)
3. विश्वं दर्पणे नागरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति। (प्र०हृ०, श्लो० 2 व्याख्या)
4. चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि सकुचितविश्वमयः। (प्र०हृ०, श्लो० 4)
5. किंच चितिरेव भगवती विश्वमनात् ससारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती, खेचरी – गोचरी – दिक्चरी – भूचतीरूपैः अशेषैः प्रमातृअन्तः कारण – बहिष्करण – भावस्वभावैः परिस्फुरन्ती।। (प्र०हृ०, श्लो० 12 व्याख्या)
6. चितिरेव विश्वग्रसनशीलत्वात् वह्निः। (प्र०हृ०, श्लो० 14 व्याख्या)
7. "बल्लाभे" विश्वम् आत्मसात् करोति। (प्र०हृ०, श्लो० 15)
8. स्वाधिष्ठितम् आत्मसात् करोति येयं तुरीया चितिशक्तिः। (प्र०हृ०, श्लो० 19 व्याख्या)
9. श्री मत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण..... शिवदिधरण्यन्तम अखिलम् अभेदेनैव स्फुरित। (प्र०हृ०, श्लो० 3)
10. स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभातः। (प्र०हृ०, श्लो० 7)

विविध भूमिकाएँ हैं।[1] भेदप्राय से जीव का मल से आवृत्त होने का संसरण होता है।[2]

शक्ति संकोच संसरण का तथा शक्ति विकास ही शिवात्मकता का द्योतक है।[3] पञ्चकृत्यों के ज्ञान के अभाव में शक्ति व्यामोह एवं संसरण होता है।[4]

पशु दशा भेदात्मकता तथा पति दशा अभेदात्मकता वाली होती है।[5] स्वरूप ज्ञान से बंधनमुक्त होकर देहधारण काल में ही जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। मध्यनाड़ी के विकास के बाद चिदानन्द की प्राप्ति होती है। तथा तदनन्तर जीवन्मुक्ति होती है।[6]

विश्व की प्रक्रिया में चिति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए साररूपेण यह तथ्य प्रतिपादित है कि समस्त प्रतीयमान जगत् शिवरूप ही है।[7] शिवोपलब्धि ही लक्ष्य है और सब की शिवमयता है।[8] यह जगत् फेन पिण्ड तुल्य है और ज्ञान अमृत का सागर है। इस विवेक का अनुभावक साक्षात् शिव ही होता है।[9]

---

1. तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः। (प्र०हृ०, श्लो० 8)
2. चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी। (प्र०हृ०, श्लो० 9)
3. शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते, स्वशक्तिविकासे तु शिव एव। (प्र०हृ०, श्लो० 9 व्याख्या)
4. तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्।
   एवं च निजशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम्।। (प्र०हृ०, श्लो० 12)
5. ब्राह्म्यादिदेव्यः पशुदशायां भेदविषये सृष्टिस्थिति..... पतिदशायां तु भेदे संहारम्, अभेदे च सगोस्थिती प्रकटयन्त्यः। (प्र०हृ०, श्लो० 12 व्याख्या)
6. ब्रह्मनाडी विकसति, तदा तद्विकासात् चिदानन्दस्य उक्तरूपस्य लाभः प्राप्तिर्भवति। ततश्च प्रागुक्ता जीवन्मुक्तिः।
7. यत् एतावत् उक्तप्रकरणशरीरं तत् सर्वं शिवम्। (प्र०हृ०, श्लो० 20 व्याख्या)
8. शिवप्राप्तिहेतुत्वात्, शिवात् प्रसृतत्वात् शिवस्वरूपाभिन्नत्वाच्च शिवमयमेव इति शिवम्। (प्र०हृ०, श्लो० 20 व्याख्या)
9. मध्येबोधसुधाब्धि विश्वमभितस्तफेनपिण्डोपमं, यः पश्येदुपदे।
   शतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः। (प्र०हृ०, पुष्पिका)

(ख) बोध–विलास :-

यह इनकी मूल कृति है। इस कृति की भी शारदालिपि में निबद्ध एक हस्तलिखित प्रति मिलती है। इसमें व्यालीस पद्य हैं। इसमें चिति से सम्बन्धित व्याख्या उपलब्ध होती हैं चिति को स्वातन्त्र्यशक्ति से युक्त मानकर उसे संसार का कारण स्वीकार किया गया है।

2. आगमपरक रचनाएँ :-

(क) शिवसूत्रविमर्शिनी :-

यह 'शिवसूत्रों' पर एक महत्त्वपूर्ण भाष्य इसमें शिवसूत्रों की विस्तृत एवं सम्यग् व्याख्या की गई है। शिवसूत्र दैवीज्ञान से सम्बन्धित हैं। साक्षात् शिव ने इनका ज्ञान वसुगुप्त को जगत्-कल्याणार्थ दिया था। इसके पहले भी शिवसूत्रों पर बहुत से भाष्य थे, लेकिन उनमें असामंजसता थी, उनको दूर करके इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए ही इन्होंने इस पर विमर्शिनी लिखी है।

(ख) स्वच्छन्दनय :-

दुर्भाग्य से क्षेमराज की यह रचना भी उपलब्ध नहीं है। किन्तु इसके नाम से ही विदित होता है कि इसमें भगवान् शिव के स्वच्छन्दरूप का प्रतिपादन युक्तिपूर्वक किया गया होगा।

---

1. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु। (प्र०ह०, श्लो० 1, पृ० 42)

3. **स्वच्छन्दोद्योत :-**

स्वच्छन्दतन्त्र को भैरव तन्त्रों में प्रधान माना गया है। यह शैवदीक्षा का सर्वाधिक प्रामाणिक शास्त्र है। इसका वर्ण्य - विषय उपासना और क्रिया है। स्वच्छन्द नाम ही काश्मीर शैवदर्शन में भैरव का पर्याय है। अन्य तन्त्रों की भाँति इसका उद्भव भी देवी और भैरव के मध्य हुए दार्शनिक संवाद से हुआ है।[1] 'स्वच्छन्दोद्योत' स्वच्छन्दतन्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। इसमें क्षेमराज ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा स्वच्छन्दतन्त्र की प्राचीन रचना को खोजकर उसकी अशुद्धियों को दूर किया है, और अद्वैतपरक तर्कसंगत व्याख्या लिखी है।

4. **नेत्रोद्योत :-**

'नेत्रतन्त्र' काश्मीर शैवागम के साधना पक्ष की व्याख्या से सम्बन्धित है। भैरव और भैरवी के संवाद के रूप में इस ग्रन्थ की अवतारणा की गई है। भैरवी की जिज्ञासा का समाधान करते हुये प्रथम अध्याय में भैरव अपने सर्वात्कम अभेद स्वरूप को प्रकट करता है, और शेष अध्यायों में मोक्ष तथा सिद्धिप्रद मन्त्रोद्धार, यजनविधि, भुक्ति - भुक्ति - फलप्रदा दीक्षा, साधन विधि, सूक्ष्मध्याननिरूपण आदि साधनात्मक पक्षों का सविस्तार वर्णन किया गया है। 'नेत्रोद्योत' नेत्रतन्त्र पर टीका है। इसमें शैवसिद्धान्तों का सफल प्रतिपादन किया

---

1. मुदितं भैरवं दृष्टवा देवी वचनमब्रवीत।। (स्व०तं० 1/4-7)

गया है। इस ग्रन्थ के बाईस अधिकार और दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में पन्द्रह तथा द्वितीय खण्ड में सात अधिकार हैं। इसको मृत्युञ्जयतन्त्र भी कहते हैं।

विज्ञानभैरवविवृति :-

'विज्ञानभैरव' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इस पर क्षेमराज के अतिरिक्त भट्टानन्द और शिवोपाध्याय ने भी भाष्य लिखे हैं। यह शिव द्वारा शक्ति के माध्यम से जगत - कल्याणार्थ उक्त रचना है। इसमें 112 धारणाओं (योग साधनाओं) का वर्णन किया गया है, जिससे जीव आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है।

स्तोत्रपरक रचनाएँ :-

(क) स्तवचिन्तामणि टीका :-

भट्टनारायण कण्ठ की 'स्तवचिन्तामणि' पर क्षेमराज द्वारा इस पर रचित विवृति ही 'स्तवचिन्तामणिटीका' नाम से विख्यात है। क्षेमराज की बहुर्मुखी प्रतिभा का बोध कराने वाली यह विवृति शिव आराधनापरक है।[1]

(ख) उत्पलस्तोत्रावलीटीका[2] :-

आचार्य उत्पलदेव द्वारा रचित 'स्तोत्रावली' पर क्षेमराज ने भाष्य लिखा है, ताकि यह

1. श्रीरामेण कृतात्र सद्विवृतिरित्येषा किमर्थेति मा सन्तश्चेतसि कृध्वमस्ति विवृतौ कोऽपि [illegible]कषोऽत्र यत। तेनार्थिप्रणयाद्धिनैस्त्रियतुरैर्या क्षेमराजो व्याधात क्षेत्रे श्रीविजयेश्वरस्य विमले सैषा शिवाराधना।। (स्त०चि०म०, पृ० 130 श्लो० 2)
2. श्रीमदीश्वरप्रतयभिज्ञाकाराचार्यचक्रवर्तिबन्धाभिधानोत्पलदेवाचार्यविरचिते चर्वणाभिधाने विंशे स्तोत्रे महामाहेश्वर श्रीक्षेमराजविरचिताविवृत्तिः।। (शि०स्त्रो०वि०, पृ० 355)

सर्वजन सुलभ हो जाए और यही भाष्य 'उत्पलस्तोत्रावलीटीका' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने भगवान् शिव की स्तुति की है। यह रचना शिवभक्ति रस से ओतप्रोत है। इस पर क्षेमराज ने विवृति लिखी है, जिसमें शिव की स्तुति के माध्यम से शैवदर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है।

(ग) भैरवानुकरणस्तोत्र :-

यह क्षेमराज की मूल रचना है। इसकी शारदालिपि में निबद्ध हस्तलिखित प्रति उपलब्ध होती है।[1] इसमें अढ़तालीस पद्यों में चिद्भैरव की स्तुति की गई है।

(घ) स्तोत्र :-

इसके विषय में हमें निम्नांकित उल्लेख इन्हीं की 'स्तवचिन्तामणिटीका' में उपलब्ध होता है :-

"तदुक्तं मयापि स्वस्तोत्रे"

इससे सिद्ध होता है कि इन्होंने कोई स्तोत्रपरक स्वतन्त्र रचना लिखी होगी। परन्तु अभी तक यह उपलब्ध नहीं हुई है।

5. स्पन्दशास्त्रपरक रचनाएँ :-

(क) स्पन्दसन्दोह :-

वसुगुप्त की 'स्पन्दकारिका' की प्रथम कारिका के नाम पर 'स्पन्दसन्दोह' नाम की

1. संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट सैक्शन, काश्मीर विश्वविद्यालय, न० 823

कृति लिखी है।[1] इसमें स्पन्दतत्त्व का अति विशद् और महत्त्वपूर्ण ढंग से वर्णन किया गया है।

(ख) **स्पन्दनिर्णय :-**

क्षेमराज ने 'स्पन्दकारिका' पर जो टीका लिखी है, वही 'स्पन्दनिर्णय' के नाम से विख्यात है। इसमें सम्पूर्ण स्पन्दकारिका की व्याख्या उपलब्ध होती है। काश्मीर शैवदर्शन में स्पन्दतत्त्व के ज्ञान के लिए यह कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[2] इसकी रचना इन्होंने अपने शिष्य शूर के प्रार्थना करने पर अपने गुरु आचार्य अभिनवगुप्त से उपदेश ग्रहण करके की है।[3]

स्पन्दनिलय :-

जैसा कि इसके नाम से ज्ञात होता है कि इसमें स्पन्दज्ञान के सम्बन्ध में चर्चा की गई होगी, किन्तु दुर्भाग्यवश यह कृति भी अनुपलब्ध है।

---

1. तत्र आद्यमेव सूत्रं विमृश्यते। (स्प०स०, पृ० 3)
2. तीक्ष्णां युक्तिकथामुपायघटनां स्पष्टार्थसन्ध्याकृतिम्। ज्ञातुं वाञ्छथचेच्छिवोपनिषदं श्रीस्पन्दशास्त्रस्य तद्वृन्तावत्र धियं निधत्त सुधियः स्पन्दश्रियं प्राप्नुतः।।
(स्प०नि०श्लो० 3 , पृ० 1)
3. (क) शूरनाम्नः स्वशिष्यस्य प्रार्थनातिरसेन तत्।
निर्णीतं क्षेमराजेन। (स्प०नि०, श्लो० 4)

(ख) महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तनाथदत्तोपदेशस्य श्रीक्षेमराजस्येति।।
(स्प०नि०, पृ० 76)

6. **काव्यसाहित्यपरक रचनाएँ :-**

(क) **ध्वन्यालोक लोचनोद्योत :-**

यह आचार्य अभिनवगुप्त के 'ध्वन्यालोकलोचन' पर क्षेमराज की टीका है। इसका मात्र हमें नामोल्लेख ही उपलब्ध होता है। अभी तक दुर्भाग्यवश इसकी उपलब्धि नहीं हो सकी है। यदि इसकी उपलब्धि हो जाती तो यह पाठकगणों के लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध होती।

7. **क्रमपरक रचनाएँ :-**

(क) **क्रमस्तोत्रटीका :-**

प्रस्तुत रचना आचार्य अभिनवगुप्त के 'क्रमस्तोत्र' पर भाष्य है। इसके विषय में माहेश्वरानन्द ने अपनी 'महार्थमञ्जरी' की व्याख्या में निम्नलिखित विवरण दिया है।

"यदुक्तं श्रीक्रमसूत्रेषु.....................यथा च व्याख्यातं श्रीमत्क्षेमराजेन"।।

8. **वामशास्त्रपरक रचनाएँ :-**

(क) **वामोदय :-**

'वामोदय' क्षेमराज की मूल रचना है। किन्तु दुर्भाग्यवश इनकी यह रचना भी अनुपलब्ध है।

९. विविध रचनाएँ :-

(क) पराप्रावेशिका :-

यह क्षेमराज की लघुतम रचना है।[1] इनकी यह रचना काश्मीर शैवदर्शन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसमें महेश्वर की स्तुति की गई है। उसे प्रकाश, विमर्श और इच्छाशक्ति से युक्त सिद्ध किया गया है। वह विमर्श के अभाव में अनीश्वर सम्भावित है। चित्, चैतन्य, परावाक, स्वातन्त्र्य ईश्वरीय वैभव, कर्तृत्व, स्फुरण, स्पन्द आदि विमर्श के पर्याय कहे गये हैं।[2] इसमें छत्तीस तत्त्वों का भी वर्णन किया गया है। जगत् की ईश्वर से अभिन्नता स्वीकार की गई है एवं शक्ति के माध्यम से ही परमशिव जगत् में स्फुरित होते हैं।

(ख) षट्त्रिंशत्तावसन्दोह :-

इस पर भट्टानन्द ने भी भाष्य लिखा है। जैसा कि इसके नाम से ही विदित है कि इसमें छत्तीस तत्त्वों का व्याख्यान किया गया है। विश्व सृष्टि में प्रथम-स्पन्द 'शिव' तत्त्व है और इच्छाशक्ति सारे विश्व का मूल कारण है। जगत् का आच्छादक अनुग्राही सदाशिव

---

1. (क) अथ पराप्रावेशिका श्रीमन्महामहेश्वराचार्यवर्यक्षेमराजविरचिता।। (परा०प्र०, पृ० 1)
   (ख) क्षेमराज विरचित पराप्रावेशिका समाप्त।। (परा०प्रा०, पृ० 12)
2. स्वातन्त्र्यं, परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यं कर्तृत्वं, स्फुरता, सारः हृदयं, स्पन्दः इत्यादि शब्दैरागमेषूद्धोष्यते।। (प०सा०, पृ० 2)

है और 'शुद्धविद्या' ही जगत् में एकता का आभास है। भेदप्रथा की हेतु माया है। संकुचित कर्तृत्व 'कला' है। परिमित, रागात्मक एवं परिच्छेदात्मक शक्ति 'कालतत्त्व' है। स्वतन्त्रशक्ति संकोचशालिनी एवं नियामक है। गुणों की साम्यावस्था तथा स्वरूपचित्तात्मक शक्ति 'प्रकृति' है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया यह शक्तियाँ त्रिगुणात्मक हैं। संकुचित देहधारी देव पञ्चविध है।

(ग) **साम्बपञ्चाशिकाविवरण :-**

यह क्षेमराज का एक व्याख्या ग्रन्थ है।[1] 'साम्बपञ्चाशिका' ग्रन्थ के पचाय श्लोकों में चिद् भानु की स्तुति है, जिसकी क्षेमराज ने सौ पद्यों में व्याख्या की है। 'साम्बपञ्चाशिकाविवरण' निःसन्देह सज्जनों द्वारा दर्शनीय है।[2]

(घ) **परमार्थसंग्रहविवृति :-**

यह आचार्य अभिनवगुप्त की रचना 'परमार्थसंग्रह' पर क्षेमराज द्वारा रचित टीका है। इसमें परमशिव को अनादि स्वीकार किया गया है और कहा गया है कि परमशिव शक्ति, माया, प्रकृति तथा पृथिवी नामक अण्डचतुष्टय को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि के टुकड़े अनेकों प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार परमशिव

1. श्रीसाम्बपंचाशिका विवरणम् समाप्तम्-कृर्तिमहामाहेश्वराचार्य शिरोमणिगण श्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविनोराजानक श्रीक्षेमराजस्येति। (सा०पं०विव०, व्याख्या-समाप्ति भाग, पृ० 38)
2. दर्शनीयं ही सद्भिः इति श्री साम्बपञ्चाशिकाविवरणं समाप्तम्।। (सा०पं०, श्लो० 1, पृ० 1)

स्वच्छन्दर्पण में देवता, मनुष्य, पशु इत्यादि अनेक पदार्थों के रूपों को अपने से अभिन्न धारण करते हैं।[1] एवं परमेश्वर के अनुग्रह से मल आदि आवरणों का क्षय होने पर ही आत्मा का प्रकाशन होता है।[2]

इस प्रकार इनकी कृतियों के महान् जाल को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपने महान गुरु की भाँति इन्होंने ने भी अपनी लेखनी व्याख्याओं के क्षेत्र में ही अधिक चलाई। इनकी सभी कृतियों में इनकी सरलता, पवित्रता एवं शिवाद्वयवाद के क्षेत्र में इनके पाण्डित्य का परिचय भी मिलना है। यद्यपि क्षेमराज को अधिकांशतः हम एक टीकाकार के रूप में जानते हैं किन्तु यह कहना नितान्त भूल होगी कि उनकी कृतियाँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखती। उनकी कृतियों में परिलक्षित उनका कर्तृत्व इस बात का सबल प्रमाण है कि काश्मीर शिवाद्वयवाद की धारणा को आगे बढ़ाने में इन्होंने विशेष योगदान दिया है।

---

1. नानाविधवर्णानां रूपंधत्ते यथाऽमलः स्फटिकः। सुरमानषपशपादपरूपत्वं तददीशोऽपि। (प०सा०, श्लो० 6)
2. नैव तथाणवमायाकर्मविमुक्तौ भवाङ्कुरंह्यात्मा।। (प०सा०, श्लो० 57)

पञ्चम अध्याय

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के अनुसार चित्ति (परमसत्ता), पशु प्रमाता (जीव) एवं योग

(क) चित्ति एवं जीव

(ख) योग

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के अनुसार चित्ति एवं जीव

काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन के मत में परमशिव, परमसत्ता, परासंवित्, चित्ति, पराचित्ति, परावाक्, पराशक्ति ही एक पारमार्थिक सत्य है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो भी चराचर प्रमाता - प्रमाण प्रमेयरूप प्रपञ्च दृश्यादृश्यरूप में विद्यमान है एवं समस्त भुवन - भाव आदि भी, उसी की अभिव्यक्ति होने से सत्य है अर्थात् आकाश - पुष्प की तरह कल्पनामात्र नहीं।[1] वह पूर्ण चिद्रूप है, इसीलिए उसे चित्ति कहा जाता है और चित्ति ही परासंवित् है।[2] इसी को आत्मा नाम से अभिहित किया जाता है।[3] शिव से लेकर पृथ्वी तक समस्त तत्त्वों की इसी आत्मा में अवस्थिति मानी गई है।[4] परन्तु यह आत्मा प्रत्येक जीव में पृथक् - पृथक् और समस्त विश्व में सामूहिक रूप से विद्यमान होते हुए भी अविभक्त एवं असीमित रहते हुए समय, देश और रूपादि से अप्रभावित ही रहती है। इससे उत्कृष्ट और कोई नहीं है, इसीलिए इसे परासंवित, अनुत्तर, परतत्त्व आदि कहा जाता है।[5] वास्तव में

---

1. (क) इह हि सर्वत्र अप्रतिहतशक्ति परमेश्वर एव तथाबुभूषुस्तथाभवति, न तु अन्यः कश्चित् परमार्थतः अस्ति इति असकृदुक्तम्। (प्र०वि०भा० 2 पृ० 233)
   (ख) चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदन - तजगदात्मना स्फुरतीत्तेयावत् परमार्थोऽयं कार्यारणभावः। (प्र०हृ०, पृ० 22)
2. [illegible]स्तुर्यातीतपदात्मिका परासंवित्। (तं०आ०भा० 3, पृ० 404)
3. चैतन्यमात्मा (शि०सू० 1-1)
4. यत् परातत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत्। (प०सा०का० 11)
5. अनुत्तरं न विद्यते प्रकृष्टमुत्तरं यतस्तदनुत्तरं चिद्घनम् (परा०त्रिं०वि०, पृ० 2)

पति (शिव), पशु (जीव) और पाश (बन्धन) उसी परमसत्ता के भिन्न-भिन्न स्तरों पर अपनी स्वातन्त्र्य महिमा से परिगृहीत चित्र हैं। परन्तु यह व्यावहारिक द्वैतमात्र का आभास है, यथार्थ में तो अम्बु, बुदबुद् आवर्त, तरंग आदि जल के विकारों की भाँति एकमात्र अद्वय वस्तु वह ही है।[1]

परमशिव को सभी वस्तुओं में रहने से विश्वमय और उनसे सीमित न होने से विश्वोत्तीर्ण भी कहते हैं। परन्तु वह विश्वमय होते हुए ही विश्वोत्तीर्ण भी है।[2] विश्वरूप से अपने विमर्श का अवभासन करके भी आत्मा अपने अनुत्तर रूप से किञ्चिन्मात्र भी च्युत नहीं होती।[3] परन्तु विश्वरूप में अपने को अभिव्यक्त करने के लिए दूसरे को आज्ञा या प्रेरणा से तत्पर नहीं होती, प्रत्युत् अपनी ही स्वतन्त्र इच्छा से ऐसा करती है।[4] उसे ऐसा करने के लिए किसी बाह्य उत्पादन आदि कारण या आधार की आवश्यकता नहीं पड़ती, अपितु अपनी ही इच्छा से अपनी ही भित्ति पर विश्व का निर्माण करती है।[5] वह अपने भीतर ही बीजरूप में स्थित विश्व को दर्पण-नगर की तरह अभिन्न होते हुए भी भिन्न की तरह उद्भासित करती है।[6] दर्पण में तो बाह्य प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, परन्तु इसमें इसकी अपनी ही

1. आवर्तबुदबुद्तरंगमयान्विकारान् अम्बो यथा सलिलमेव हि तत् समस्तम्। (उ०र०च० 3 - 47)
2. अतएव अयं विश्वमयत्वेऽ पि विश्वोत्तर्णस्तदुतीर्णत्वेऽपि तन्मयः। (तं०आ०भा० 1, पृ० 105)
3. विश्वमयत्वेऽ प्यस्य स्वस्वरूपान्न प्रच्यावः। (तं०आ०भा०, पृ० 104)
4. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। (प्र०हृ० सू० 1)
5. स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति। (प्र०हृ०, सू० 2)
6. विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति। (प्र०हृ०, पृ० 26)

शक्तियों के उल्टे क्रम से प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, बाह्य प्रमेय आदि वाञ्छनीय नहीं होता। परमशिव प्रकाशरूप और विमर्शस्वभाव है। क्षेमराज कहते हैं कि स्वाभाविक 'अहं' प्रतीती ही विमर्श है। यदि परमतत्त्व प्रकाशमात्र होता और विमर्श स्वभाव न होता, तो निरीश्वर और हीरे आदि की भाँति जड़ होता।[1] यह प्रकाश और विमर्श में अविनाभाव सम्बन्ध रहता है।[2] वास्तव में यह विमर्श ही शिव की अपनी महेश्वरता की पूर्ण प्रतीति है।[3] इसे शिव का विशुद्ध 'अहं' कहा जाता है।[4]

शिव ही प्रकाश है और शक्ति ही विमर्श है तथा शिव और शक्ति का सतत नित्य सामरस्य ही परमशिव या पराशक्ति है। जिस प्रकार अग्नि से दाहकता एवं जल से शीतलता व्यतिरिक्त नहीं की जा सकती[5], उसी प्रकार शिव से शक्ति पृथक नहीं हो सकती। शक्ति के बिना शिव कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो सकता, अपितु इससे युक्त ही समस्त सृष्टि आदि का कार्य सतत चलाता रहता है – ऐसा आदि शंकराचार्य का भी मत है।[6] यह विमर्शरूप शक्ति का ही समस्त खेल है ऐसा कहें तो अतिशयोक्ति नहीं है।[7] आचार्य

1. विमर्शो – अकृत्रिमाहं विस्फुरणम्, यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जड़श्च प्रसज्येत। (प्र० प्रा० पृ० 2)
2. प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्। स च प्रकाशो न पृथग् विमर्शात्। (वि०भै०वि०, पृ० 122)
3. स एव विमृशत्त्वेन नियतेन महेश्वरः। (ई०प्र०, भा० 1)
4. या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्। (अ०प्र०सि०, श्लो० 15)
5. (क) न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी। (शि०दृ० 3 – 2)
   (ख) न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग् भवेत्। (शि०दृ० 3 – 7)
6. शिवः शकत्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्
   न चेदेवं देवो न खलु कुशलाः स्पन्दितुमपि। (सौ०ल० 1)
7. विमर्शो सर्वंसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति।
   उभयम् स्वीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः।
   (ई०प्र०वि० भा० 1, पृ० 205)

अमृतवाग्भव का भी ऐसा ही मत है।[1]

क्षेमराज ने परमशिव से अभिन्नरूप पराशक्ति का "प्रत्यभिज्ञाहृदयम्" में ऐसा सुन्दर विशद चित्रण खींचा है, जिससे प्रतीत होता है कि समस्त लीला-प्रपञ्च उनकी स्वतन्त्र इच्छा पर ही अवलम्बित है। स्वतन्त्ररूपा चित्ति शक्ति से सदाशिव से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त समस्त तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं, जो पर-पर की अपेक्षा प्रधान और विशुद्ध होते हैं तथा मुख्य तत्त्व होते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार आदि समस्त विश्व उन्हीं का शक्ति स्फार है।[2] महामन्त्ररूप परावाक् शक्ति विश्व में अपने को पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी विभिन्न शक्तियों द्वारा विकसित करके समस्त शब्द जाल में अपने को विविक्त करती हैं। ये वे तत्त्व हैं, जिनसे संसार का व्यवहार चलता है।[3] पराशक्ति अपने को विभिन्न शक्तियों में विविक्त करके संसार को नियन्त्रित करती है। संसार में जो शुभ-अशुभ चक्र चलता है, वह पराशक्ति की सहायक ब्राह्मी आदि शक्तियों द्वारा ही चलायमान है। वे ही खेचरी,

1. **शाकः** काशश्च काशश्च शाको भवति सर्वथा।
यः काशते स शक्नोति यः शक्नोति स काशते।। (श्रीसि०, रा० का० 20)
2. (क) चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। (प्र०हृ०, सू० 1, पृ० 20)
(ख) विश्वस्य सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य सिद्धौ – पराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती स्वतन्त्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना हेतुः। (प्र०हृ०, पृ० 20–21)
(ग) अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगदुन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति। (प्र०हृ०, पृ० 21)
3. चित्प्रकाशात् अण्यतिरिक्ता नित्योदितमहामन्त्ररूपा पूर्णाहविमर्शमयी येयं परावाक्छक्तिः आदिक्षान्तरूपाशेषशक्तिचक्रगर्भिणी सा तावत् पश्यन्ती मध्यमादिक्रमेण ग्राहकभूमिका भासयति। (प्र०हृ०, पृ० 57–58)

गोचरी, दिक्चरी एवं भूचरी आदि रूप से पति और पाश एवं पशु दशा का संचालन करती है। यह सारा पराशक्ति का ही आनन्द विलास होता है।[1] अतः अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से शिव ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण बनता है। परन्तु यह चिति जोकि समष्टि चैतन्य है, परावाक् जो नित्य शब्द है तथा पराशक्ति जो मूलशक्ति है, परस्पर और परमशिव से भिन्न नहीं हैं, अपितु एक ही है और एक ही क्रीड़ा को चलाने के लिए स्वेच्छा से भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में अभिव्यक्त होकर उसकी पूर्ति करती है। तात्पर्य यह है कि एक परमशिव ही अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से सर्वत्र स्फुरित हो रहा है।[2] वह ही परमकारण है।[3] यह विमर्शरूपता ही स्पन्द, स्वातन्त्र्य, चित्, परावाक्, कर्तृत्व, स्फुरत्ता आदि नामों से अभिहित की गई है।[4] महाकवि कालिदास शिव और शक्ति को शब्द और अर्थ की तरह परस्पर ओत-प्रोत मानते थे।[5] श्री दुर्गासप्तशती में भी शिव शक्ति एक ही तत्त्व को कहा गया है।[6] शक्ति के भी असंख्य विविध रूप हैं, जिनमें पाँच मुख्य और मूल माने जाते हैं

1. चितिशक्तिरेव भगवती विश्ववमनात्....... चकास्ति। (प्र०ह०, पृ० 60)
2. तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः। एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा। (शि०दृ०, आ० 4.5)
3. शिवः परम कारणम्। (तं०आ०आ० 1-88)
4. एष एव च विमर्शः चित्, चैतन्यं, स्वरसोदिता परावाक्, स्वातन्त्र्यं, कर्तृत्वं, स्फुरत्ता, स्पन्दः इत्यादिशब्दैरागमेषूद्घोष्यते। (परा० प्रा०, पृ० 2)
5. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। (रघु० 1-4)
6. "दधती शिवशक्तिरूपां कामेश्वरी हृदि भजामि"- "एकैव अहं जगत्मत्र" तथा "अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदास्थिता।" (दु०श०, अ० 10, ध्यान तथा श्लो० 5, 8)

तथा उनमें से भी तीन प्रसिद्ध हैं – इच्छा, ज्ञान और क्रिया।[1] पाँचों शक्तियों (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया) का संक्षिप्त विवरण इस तरह है –

1. **चित्शक्ति :-**

यह प्रकाशरूप अवभासनात्मक शिव की शक्ति है[2] जिससे वे स्वयं सतत प्रकाशित रहते हैं, उस समय भी जब शून्य ही शून्य होता है।[3] प्रकाशरूप आत्मा का इच्छास्फुरण विश्व भी प्रकाश रूप ही है।[4]

2. **आनन्दशक्ति :-**

परमशिव की पूर्ण आह्लादात्मक और मोदात्मक विमर्शरूप स्वातन्त्र्य-शक्ति आनन्द-शक्ति है[5], जो सदैव अपने में सर्वथा सन्तुष्ट होने से पूर्ण विश्रान्तियुक्त है एवं किसी की भी अपेक्षा नहीं रखती।[6]

3. **इच्छाशक्ति :-**

यह सर्वसामर्थ्यसम्पन्न एवं अप्रतिहत शक्ति है, जिसे दैवी चमत्कार भी कहते हैं तथा जिससे करने, न करने का ईश्वरीय निश्चय होता है।[7]

---

1. (क) शक्तयश्च अस्य असंख्येयाः (तं॰सा॰आह॰ 4, पृ॰ 28)
   (ख) इत्येवं मुख्याभिः (पञ्चभिः) शक्तिभिर्युक्तोऽपि वस्तुत इच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्तियुक्तः-शिवरूपः। (तं॰सा॰आह॰ 4, पृ॰ 6)
2. प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः। (तं॰सा॰आह॰ 1, पृ॰ 6)
3. प्रकाशश्च अनन्योन्मुखविमर्शः अहमिति। (ई॰प्र॰वि॰ 3-1-4)
4. प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो। (ई॰प्र॰भा॰ 1, 1-15-3)
5. स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः। (तं॰सा॰आह॰ 1, पृ॰ 6)
6. अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः। (ई॰प्र॰वि॰भा॰ 1, पृ॰ 207)
7. तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः। (तं॰सा॰आह॰ 1, पृ॰ 6)

4. **ज्ञानशक्ति :-**

यह वह शक्ति है, जिससे अपने प्रति और परस्पर दूसरों के प्रति सम्बन्ध का अनुभव होता है अर्थात् ज्ञातृ-ज्ञेय का ज्ञान होता है।[1] इसे चिदात्मा की तनिक-सी वेद्योन्मुखता भी कहते हैं।[2]

5. **क्रियाशक्ति :-**

प्रत्येक प्रकार का, कोई भी रूप धारण करने की एवं प्रत्येक कार्य करने की सामर्थ्य को क्रियाशक्ति कहते हैं।[3] यह समस्त विश्वस्फार क्रियाशक्ति का ही रूप है।[4]

अपनी शक्ति की इन प्रमुख शक्तियों, जोकि वास्तव में असंख्य और असीमित हैं, के द्वारा परमशिव विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है अर्थात् विश्व के रूप में अपनी शक्ति को प्रकट करता है। असंख्य विश्वों की सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह क्रिया को वह सतत करता ही रहता है।[5] यह क्रमशः इस प्रकार है :-

1. **सृष्टि :-**

बहिर्मुखीभाव के अवसर पर जब नील इत्यादि विषयों को नियत देश, काल इत्यादि

---

1. एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते। (मा०वि०उ०तं०अधि० 3, 6-7)
2. आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः। (तं०सा०आह० 1, पृ० 6)
3. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः। (तं०सा०, आह०, पृ० 6)
4. क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः। (ई०प्र०वि०, भा० 2, पृ० 42)
5. नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने। (प्र०हृ०, पृ० 19)

से आभासित करते हैं, तब नियत देश, काल आदि में जो आभासित हो रहा है, यह उनकी सृष्टि क्रिया कहलाती है। इसमें अव्यक्त रूप को व्यक्त किया जाता है, न कि कोई नवीन वस्तु उत्पन्न की जाती है।[1]

2. **स्थिति :–**

नील इत्यादि के आभास का बना रहना उनकी स्थिति क्रिया है अर्थात् विद्यमान को स्थिर करना।[2]

3. **संहार :–**

विषयों का अन्य देश और काल में आभासित होना उनकी संहार क्रिया है। अर्थात् व्यक्त को अव्यक्त रूप में ले जाना, न कि किसी वस्तु का नाश करना।[3]

4. **विलय :–**

भेद से आभासित होना उनकी विलय क्रिया है अर्थात् अपने को छुपाना – माया के कारण अपने को जीव रूप में समझना और जगत् को अपने से भिन्नरूप में जानना।[4]

5. **अनुग्रह :–**

विषयों का चित्प्रकाश के ऐक्य से प्रकाशित होना उनकी अनुग्रह क्रिया है। अर्थात्

---

1. चिद्रूपो महेश्वरो बहिर्मुखीभावावसरे नीलादिकमर्थं नियतदेशकालादितया यदा आभासयति तदा नियतदेशकालाद्याभासांशे अस्यस्रष्टृता। (प्र०हृ०, पृ० 51–52)
2. नीलाद्याभासांशे स्थापकता। (प्र०हृ०, पृ० 52)
3. अन्यदेशकालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता। (प्र०हृ०, पृ० 52)
4. भेदेन आभासांशे विलयकारिता। (प्र०हृ०, पृ० 52)

शक्तिपात, गुरु, शास्त्र या स्वयं द्वारा अनुग्रह करके स्वस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराकर शिवरूप में स्थित होना।[1]

यह कार्य उनका जीवदशा में भी प्रकाशन, आस्वादन, आत्मबोध, बीज का अवस्थापन और विलापन[2] भेद से सतत चलता रहता है।[3] यह जीवरूपता चित्स्वरूप में शक्ति संकोच के कारण मल से ढकने के कारण है[4], जोकि अपने यथार्थ स्वरूप का अज्ञान ही होता है।[5] इस विश्व-लीला का आदि अन्त नहीं है। जगत् की सृष्टि के समय को उदय, उन्मेष या अवभासन कहते हैं और संहार के समय को, जबकि विश्व को अपने में बीज (शक्ति[6]) रूप में रखती है, निमेष, प्रलय आदि कहते हैं[7] तथा इसके पूर्ण चक्र को एक कल्प कहते हैं।

वास्तव में यह सब व्यावहारिक भेद हैं, पारमार्थिक रूप से तो समस्त रूपों में एक

---

1. प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतृता। (प्र०हृ, पृ० 52)
2. आभासनरक्तिविमर्शनबीजावस्थापनविलापनतस्तानि। (प्र०हृ०, सू० 11)
3. तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति (प्र०हृ०, सू० 10)
4. (क) स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
   मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः। (ई०प्र०, भा० 2, 4-1.4)
   (ख) चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी। (प्र०हृ०, सू० 9)
   (ग) शिवशक्त्यात्मकं जीवं यः पश्यति स वैष्णवः। (गा०तं० 147)
5. तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्। (प्र०हृ०, सू० 12 तथा टीका, पृ० 56)
6. बीजावस्थापन। (प्र०हृ०, सू० 11, पृ० 53)
7. अस्यां हि चिति प्रसरन्त्यां जगदुन्मिषति–निवृत्तप्रसरायां च निमिषति। (प्र०हृ०, पृ० 21 टी०)

शिवभट्टारक ही व्याप्त हो रहा है, अन्य कुछ नहीं है। यह मुक्ति, बन्धन, माया, आणव, कर्म, प्रमाता, प्रमेय, चर, अचर, सभी उसकी ही स्वेच्छा से अभिव्यक्तियाँ परिगृहीत की हुई हैं। अतः सब कुछ शिव ही है।[1]

जीव :-

स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा होती है कि जीव अथवा पशु विकल्प प्रधान होता है और विकल्पन क्रिया चित्त से होती है इस प्रकार चित्त के रहने पर जीव की जीवात्मकता कैसे सम्भव है? इसके प्रत्युत्तर में प्रत्यभिज्ञाहृदम में क्षेमराज अद्वैत शैव दर्शन का सर्वमान्य सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वास्तव में चित्ति ही चेतन पद से अवरोहण लीला में प्रमेयों (विषयों) के अनुरूप संकुचित होकर चित्त बन जाती है। अतः चित्त कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु पराभगवती का ही रूप है।[2] जीव की अवस्था में अन्तःकरण की ही प्रधानता होती है जिससे वह सीमित रूप में ज्ञान, मनन एवं अभिमान सहित ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेंद्रियों के द्वारा सीमित रूप में श्रवणादि कार्यों को करता है। पति अथवा चित्ति की अवस्था में सभी विषयों को अभिन्न रूप से अनुभव करता है और असीमित ज्ञान, क्रिया,

---

1. (क) स चैको द्विरूपत्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः।
(प्र०हृ०, सू० 7 तथा टीका पृ० 38)
(ख) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया संयुनक्तु।। (श्वे०उप० 4.1)

2. चितिरेव चेतन पदादवरुढा चेतयसंकोचिनी चित्तम्।
न चित्तं नाम अन्यत् किंचित्, अपितु सैव भगवती तत्। (प्र०हृ०, सू० 5)

माया, शक्ति के असीमित ऐश्वर्य से युक्त होता है परन्तु वही पशु (जीव) की अवस्था में अपने से वस्तुओं को भिन्न समझता है और उसकी ज्ञान क्रिया एवं माया शक्तियाँ क्षीण होकर क्रमशः सत्त्व, रज और तम गुणों का रूप धारण कर लेती है।[1] इस प्रकार चित्त ही माया परमात्मा का रूप होता है।[2] जीव अवस्था में चित्त और आनन्द स्वात्म स्वरूप इच्छा आदि शक्तियों में भी संकोच होने से मल (अज्ञान) से आवृत्त हो जाता है और इस प्रकार संसारी (संस्रणशील) हो जाता है।[3] इच्छा शक्ति का संकोच होने पर अपूर्ण मन्यता रूप आणव मल, ज्ञानशक्ति का संकोच होने पर भेद का मनन करने वाला अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) और सीमित साम्थर्य वाली ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत, त्वक्, चक्षु, रस और घ्राण) से मायीयमल और क्रियाशक्ति के संकोच से सीमित साम्थर्य वाली कर्मेंद्रियों (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) का रूप धारण करके कारणमल से युक्त हो जाता है। इसी प्रकार चित्ति की अवस्था की सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियाँ भी संकोच ग्रहण करके यथाक्रम कला (किञ्चत कर्तृत्व), विद्या (किञ्चत ज्ञातत्व), राग (किञ्चत आशक्ति), काल (भूत, वर्तमान, भविष्य) और नियति (विशेष कारण से विशेष कार्य की उत्पत्ति) का रूप धारण कर लेती हैं इस प्रकार शक्तियों के संकोच से संसारी बन

---

1. स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
   मायातृतीये ते एव पशोः सत्वं रजस्तमः।। (प्र०हृ०टी० पृ० 22)
2. चित्तमेव तु मायाप्रमातः स्वरूपम् – इत्याह तन्मयो माया प्रमाता। (प्र०हृ० सू० 6)
3. चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी। (प्र०हृ० सू० 9)

जाता है। शक्ति - विकास में तो शिव (चिति) ही होता है।[1] इस जीव (सांसारिक) की अवस्था में भी शिव की अवस्था वाले पाँच कृत्यों की तरह पाँच कृत्य करता है।[2]

योगरूप उपायों के अनुसरण से शक्तियों का विकास होने पर और अपने परमार्थ स्वरूप का प्रत्यविज्ञान होने पर चित्त अन्तर्मुखी भाव से चेतन पद पर आरोहण करके चिति बन जाता है।

(ख) योग :–

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीव वास्तव में शिवरूप ही है, लेकिन माया के आवरण के कारण आणव, मायीय एवं कार्ममल के पाश से बंधकर तथा कला, विद्या, राग, काल और नियति इन पाँच कञ्चुकों के शिकंजे में फंसकर पशु बन जाता है। इस प्रकार अपने स्वातन्त्र्य एवं सार्वभौम अस्तित्व की अनुभूति से हीन होकर परतन्त्र हो जाता है। अच्छे - बुरे कर्म करके अच्छी - बुरी योनियों में भ्रमण करता है। इस भवचक्र से छुटकारे के लिए और अपने परमार्थ स्वरूप की प्राप्ति के लिए योग अथवा समावेश सर्वोत्तम माना गया है। योग से तात्पर्य है जीवात्मा और परमात्मा का एकत्व।[3] गीता में भी समत्व को ही योग

---

1. तथा विधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते; स्वशक्ति विकासे तु शिव एव। (प्र०हृ०टी० सू० 9)
2. (क) तथापि तद्वत पञ्च कृत्यानि करोति (प्र०हृ०, सू० 10)
   (ख) आभासन – रक्ति – विमर्शन – बीजावस्थापन विलापनस्तानि। (प्र०हृ०, सू० 11)
3. योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना। (मा०वि० त० 4–4)

कहा गया है।[1] समावेश से तात्पर्य है जीव भाव को भूलाकर शिव भाव की अनुभूति होना।[2]

जप, तप, ध्यान, पूजादि सभी आन्तर एवं बाह्य उपाय माया क्षेत्रवर्ती ही होते हैं और आत्मा से ही आभासित होने के कारण घट की भाँति शुद्ध प्रकाशरूप सूर्य-चैतन्य को प्रकाशित नहीं कर सकते हैं।[3] परन्तु मलावरण का प्रक्षालण करने से शुद्ध संवित् के चमकने से व्यवहार में यही मुक्ति के उपाय अभिहित होते हैं। इन उपायों से योग अथवा समावेश[4] लाभ होकर शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठान हो जाता है।[5]

योग के लिए विभिन्न उपाय हैं, परन्तु उनमें से प्रमुख चार हैं – अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय एवं आणवोपाय।

अनुपाय :–

इसमें साधक को कोई उपाय नहीं करना पड़ता है अथवा सीमित उपाय का अवलम्बन करना पड़ता है। इसीलिए इसको सहजोपाय, आनन्दोपाय एवं सर्वोत्कृष्ट होने से अनुत्तरोपाय भी कहते हैं। बिना किसी तप आदि कठोर अभ्यास के सहज ही स्वरूप ज्ञान

---

1. समत्वं योग उच्यते, योगः कर्मसु कौशलम्। (भ०गी० 2-48, 50)
2. मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्तपि च चिदात्मनः।
   शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्।। (ई०प्र०वि० 3.2.12)
3. उपायैर्न शिवो भान्ति भान्ति ते तत्प्रसादतः। (तं०आ०वि०, भा० 1 आह० 2, पृ० 3 एवं तं० सा० पृ० 9)
4. मुख्यत्वं कर्तृतायास्तु बोधस्य च चिदात्मनः।
   शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्। (ई०प्र०का० 3-23)
5. क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः।
   (क्रमसूत्रेषु प्र०ह०, पृ० 91)

कराने का सबसे सरल उपाय यही है।[1] जैसे एक दीपक की ज्योति दूसरे में स्पर्शमात्र से संक्रान्त हो जाती है, इसी प्रकार किसी सिद्ध पुरुष आदि के कथन, स्पर्श, दर्शन, चारु-भक्षण अथवा अनुग्रह करने की इच्छामात्र से स्वयं शिव के शक्तिपात करने से शिवता की प्राप्ति हो जाती है, जिससे वह समस्त विश्व को अपना ही रूप समझता है।[2]

शाम्भवोपाय :–

इसमें चित्त को सर्वथा सभी मानसिक व्यापारों से शान्त कर, उसकी स्थिरता का अभ्यास किया जाता है।[3] चलती हुई वायु से रहित स्थान पर जलते हुए दीपक की प्रथा की भाँति स्थिर अवस्था में स्वतः अपने में ही ठहरे रहने का अभ्यास शाम्भवोपाय कहा जाता है।[4] अभ्यास के दृढ़ हो जाने से बिना इच्छा के ही शिवभाव समावेश होने लगता है। इसे इच्छोपाय अथवा अभेदोपाय भी कहते हैं।[5]

---

1. न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
   एकमेव शिवाभासः तं नुमो भक्तिशालिनम्।। (शि०स्तो० 1–1)
2. दर्शनात्स्पर्शनाद्वापि विततादुभवसागरात्।
   तारयिष्यन्ति योगीन्द्राः कुलाचारप्रतिष्ठिताः।। (शि०सू०वि०, पृ० 192)
3. अविकल्पस्वरूपपरिशीलनात्मा शाम्भवावेशः। (वि०भै०वि०, पृ० 19)
4. (क) निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत्।
   तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने। (वि०भै०, 108 एवं भ०गी० 6.19)

   (ख) द्रष्टव्य अमन० यो० (1–40)
5. अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवम्। (तं०अ० आह० 1–230)

शाक्तोपाय :–

इस योग में ज्ञान एवं भावना की ही प्रधानता होती है, अतः इसे ज्ञानोपाय, भावनोपाय, भेदाभेदोपाय भी कहते हैं। शरीरादि के बन्धन में कारण, अहन्ता-ममतादि अशुद्ध विकल्पों को त्यागकर – "मैं परमशिव ही हूँ", "सब कुछ मेरी ही अभिव्यक्ति है" – ऐसे शुद्ध एवं परिपूर्ण शिवभाव की भावना करना शाक्तोपाय कहलाता है।[1] शुद्ध ज्ञान प्राप्ति में याग, होम, जप, व्रत और योग प्रसिद्ध है।[2] जिनके विकल्प ज्ञान के दर्पण में अपने संकल्पविकल्पात्मक रूप को पुनः पुनः भैरवभाव से देखते हुए शिवैक्य स्थापित हो जाने से मुक्त हो जाता है।[3] अभिनवगुप्त का कथन है कि अशुद्ध विकल्प के प्रभाव से ही जीव अपने को बद्ध मानते हैं और ऐसा अभिमान ही संसार के प्रतिबन्ध (आवागमन) का हेतु होता है। अतः प्रतिद्वन्द्विरूप शुद्ध विकल्प उदित होने से संसार हेतु अशुद्ध विकल्प नष्ट हो जाता है। शुद्ध विकल्प से वह अपने को समस्त भावों से उत्तीर्ण समझकर अपरिच्छिन्न-संविन्मात्र परमार्थ में अहन्ता करता हुआ विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता का अनुभव करता है। यद्यपि परमतत्त्व सर्वत्र सर्वरूपता से प्रकाशमय होने से विकल्प द्वारा खण्डित या मण्डित नहीं हो सकता। अतः शिवात्मा स्वस्वभाव में अभ्यास असम्भव है,

3. (क) सर्वमहंभावभावनात्मकशुद्धविकल्पनावमशरूपः शाक्तः। (वि०भै०वि०, पृ० 19)
   (ख) द्रष्टव्य (तं०सा०, पृ० 21)
4. तं० सा०, पृ० 25
5. तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि।
   आत्मानं भैरवं पश्यन् न चिरात्तन्मयी भवेत। (तं०आ०, आह० 8-208, 209)

तथापि शुद्ध विकल्प द्वैतभाव को नष्ट करता है, जो स्वरूप की अख्यातिमात्र होता है। अतः विकल्प द्वारा द्वैतापासन किया जाता है।[1] मन्त्र, शक्ति, सत्तर्क और शुद्ध विद्या से भी ऐसा समावेश होता है।

आणवोपाय :–

शाम्भवोपाय में तो चित्त का कोई आलम्बन नहीं होता, प्रत्युत् चित्त – क्रिया शान्त हो जाती है। शाक्तोपाय में चित्त परमतत्त्व के प्रत्यवमर्श में सहायक होता है, किसी वस्तु पर नियत नहीं किया जाता। परन्तु आणवोपाय में अणु अपने अनुरूप ही बुद्धि, प्राण, शरीर अथवा बाह्य प्रमेयादि सीमित तत्त्वों को अपनी यौगिक क्रियाओं का आधार बनाता है। अतः इसमें चित्त को अपने से भिन्न वस्तुओं पर स्थिर करके भावना के द्वारा उनको आत्म – परमेश्वर के रूप में ही समझने का अभ्यास किया जाता है।[2] यह कल्याणरूप क्रिया एवं ध्यानादि मानस क्रिया से साध्य है। इसीलिए इसे क्रियोपाय एवं भेदोपाय भी कहते हैं। अभ्यास दृढ़ होने पर स्वरूप पहचानकर शिवरूपता की प्राप्ति हो जाती है। मालिनी विजय में कहा गया है कि उच्चार (विशेष प्राण – प्राणापानादि), करण (देह पर की जाने वाली

---

1. विकल्पबलात् एव जन्तवो बद्धम् आत्मानम्अभिमन्यन्ते...... स्वरूपाख्यातिमात्रं तत्। अतो द्वैतापासनं विकल्पेन क्रियते। (तं०सा०, पृ० 21 तः 24)
2. यदा तूपायान्तरमसौ स्वसंस्कारार्थं विकल्पोऽपेक्षते, तदा बुद्धिप्राणदेहघटादिकान् परिमितरूपानुपायत्वेन गृहणन् अणुत्वं प्राप्त आणवं ज्ञानमाविर्भावयति। (तं०सा०, पृ० 35)

योगिक प्रक्रिया), ध्यान (लय या दाह भावना), वर्ण (सामान्य प्राण-अनाहत नाद) और स्थान प्रकल्पना (शरीर, प्राणवायु और बाह्यमूर्ति आदि) से प्राप्त होने वाला समावेश आणव कहा जाता है।[1]

क्षेमराज के अनुसार इन आगमोक्त प्रमुख उपायों के अतिरिक्त अन्य भी उपाय हैं जिनका उन्होंने विशेषकर उल्लेख किया है जिनके अनुसरण से परमार्थ लाभ होता है अर्थात् आत्म-महेश्वर की अभिव्यक्ति होती है। ऐसा उन्होंने इसलिए किया कि बहुत से उपाय बताने से अपनी रुचि के अनुसार साधक उनमें से किसी एक को योग का माध्यम बना सकता है। वह योग के उपाय इस प्रकार हैं :-

विकल्पक्षय :-

अपने हृदय में चित्त को स्थापित करके, अपनी यथार्थ स्थिति के प्रतिबन्धक विकल्प को, बिना अन्य किसी चिन्तन को रोककर, निर्विकल्प होकर, देहादि के प्रति दूषित तादात्म्य को त्यागकर अपनी पारमार्थिक चेतना के प्रमाता होने का अभ्यास करने से शीघ्र ही विकास की ओर उन्मुख हुई तुर्य-तुर्यातीत-समावेश दशा को प्राप्त कर लिया जाता है।[2] ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, स्पन्दशास्त्र एवं श्रीज्ञानगर्भ में

1. उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
   यो भवेत्तु समावेशः सम्यगाणव उच्यते। (मा०वि० 2.21)
2. हृदयनिहितचित्तः .... समावेशदशां आसादयति। (प्र०हृ०, सू० 18, पृ० 75)

भी ऐसा ही मत मिलता है।[1]

शक्ति संकोच :–

इन्द्रियों के द्वारा विषयों की ओर जाती हुई शक्ति को सिमटकर प्रत्यगात्मा की ओर लगाना ही शक्तिसंकोच है।[2] इन्द्रियों की बाहर फैली हुई शक्ति को चारों ओर से संग्रहित करके, जैसे कछुआ भय के समय अपने अंगों को सिकोड़कर भीतर की ओर पलट देता है, प्रत्यग् आत्मा की ओर लगाना भी शक्तिसंकोच कहा जाता है। उसके पलटने से नित्योदित की स्थिति प्राप्त हो जाती है।[3] कठोपनिषद् में धर्मराज नचिकेता को भी ऐसा ही उपदेश देते हैं।

शक्तिविकास :–

भीतर छिपी हुई शक्तियों का एक साथ ही सब इन्द्रियों के प्रसार द्वारा शक्ति का विकास होता है। अर्थात् लक्ष्य तो भीतर रहे एवं दृष्टि बिना बन्द या खोले हुए एकटक बाहर की ओर रहे – भट्टश्रीकल्लट का भी ऐसा ही मत है। चित्त के भीतर अनुप्रवेश के साथ

---

1. (क) विकल्पहानेनैकाग्रयात्क्रमेणेश्वरतापदम्। (ई०प्र०का० 4.1.11)
   (ख) यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम्। (स्प०का०नि० 1.9)
   (ग) विहाय सकलाः क्रिया....... नृभिरतन्द्रितासमसुखामृतस्यन्दिनी। (श्री ज्ञान गर्भे)
2. शक्तेः संकोच–इन्द्रियद्वारेण प्रसरन्त्या एवाकुञ्चनक्रमेण उन्मुखीकरणम्। (प्र०हृ०, पृ० 78)
3. प्रसृताया अपि वा कूर्माङ्गसंकोचवत्........ नित्योदित स्थितिः। (प्र०हृ०, पृ० 78)

इन्द्रियों का बाहर फैलाव भैरवी मुद्रा कहलाता है।[1]

शक्ति का विकास – ऊर्ध्वकुण्डलिनी में फैलाव और रुकाव दशा का मानसिक अभ्यास है, जो दशा सूक्ष्म प्राणशक्ति द्वारा भौहों के बीच के प्राण के निरोध से क्रमशः प्राप्त होती है और जो सूक्ष्म प्राणशक्ति नाक के भीतर के नियमन से विकसित होती है। शक्ति का संकोच – षष्ठवक्त्ररूपी मेढ्रकन्द में विद्यमान अधः कुण्डलिनी में, प्राणशक्ति को पुटकर, अधः कुण्डलिनी के मूल, मध्य और अग्रभाग में समावेश है।[2]

वाहच्छेद :-

दोनों वायु अर्थात् प्राण और अपान, जिनमें प्राण सुषुम्ना के दाईं ओर तथा अपान बाईं ओर चलता है, को हृदय में पहले रोककर अनच्क (स्वररहित) ककार, हकार इत्यादि वर्णों के उच्चारण से विच्छेद करना वाहच्छेद है।[3]

आद्यन्तकोटिनिभालन :-

इससे तात्पर्य है – हृदय और द्वादशान्त में प्राण के उमड़ने (उदय) और समाप्त (अस्त) होने के अवसर पर चित्त को लगाने का अभ्यास करना।[4]

---

1. (क) शक्तेर्विकासः – अन्तर्निगूढाया अक्रममेव सकलकरणचक्रविस्फारणेन अन्तर्लक्ष्याबहिर्दृष्टि निमेषोन्मेषवर्जितः इति भैरवीयमुद्रानुप्रवेशयुक्त्या बहिः प्रसरणम्। (प्र०हृ०, पृ० 79)
   (ख) रूपादिषु परिणामात् तत्सिद्धिः। (श्रीभट्टकल्लटेन उक्तम्)
2. शक्तेश्च संकोचविकासौ....... आवेशः। (प्र०हृ०, पृ० 80–81)
3. वाहयो वामदक्षिणगतयोः...... विच्छेदनम्। (प्र०हृ०, पृ० 81–82)
4. आदिकोटि हृदयम्....... परिशीलनम्। (प्र०हृ०, पृ० 82–83)

इस प्रकार के अन्य भी उपायों से मध्यविकास होने से चिदानन्द लाभ होता है। इसी को परमयोगी की समाधि, समापत्ति, समावेश आदि कहते हैं। जहाँ-जहाँ भी मन को आनन्द मिले, उसके वहीं लगाकर ध्यान करने से उसमें ही परमानन्द के स्वरूप का भान (प्रकाश, अनुभव) होगा।[1]

शैव दर्शन में चित्त के रोकने को भयावह माना गया है।[2] इसीलिए विषयानन्द, आस्वाद (खान-पान के आस्वाद), शब्द (संगीत से प्राप्त), मनस्तुष्टि (जहाँ कहीं मन को प्रसन्नता मिले) आदि की धारणा से भी परमानन्द लाभ होना अभिव्यक्त किया गया है।[3]

---

1. यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्।
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपः संप्रकाशते। (श्री वि०भै०, श्लो० 73)

2. (क) स्वं पन्थानं हयस्येव मनसो ये निरुन्धतो।
तेषां तत् खण्डनायोगाद् धावत्युत्पथकोटिभिः।। (मा०वि०वा०, 2-109.110)
(ख) यथा निरंकुशो हस्ती कामान् प्राप्य निवर्तते।
अवारितं मनस्तद्वत् स्वयमेव विलीयते।। (अमन०यो० 2-73)

3. शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम्।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्यतत्सुखं स्वाक्यमुच्यते।।
जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भनात्।
भावयेद्भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत्।।
गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकताम्मनः।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरुढेस्तदात्मता।।
यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्।
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं संप्रकाशते।। (वि०भै० 69 तः 74)

उपसंहार

उपसंहार

योगदर्शन एक ऐसा दर्शन रहा है, जो सभी दार्शनिकों को किसी न किसी रूप में स्वीकार्य या मान्य रहा है चाहे वह नास्तिक मतावलम्बी हो या आस्तिक मतावलम्बी हो। सभी दार्शनिकों का इस विषय में एक मत है कि जन्म दुःखों का कारण है। जो भी प्राणी जन्म लेता है, वह किसी न किसी क्लेश से ग्रसित होता है, जिन्हें सांख्य मत में सम्यक् रूपेण त्रिविध - आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःख माना गया है और इसकी निवृत्ति के लिए ज्ञान - योग एवं योग - ज्ञान का होना परमावश्यक है।

आधुनिक युग में योग की भी उतनी ही अधिक महत्ता सिद्ध होती है, जितनी कि विज्ञान की लोग योग की महत्ता को भूल गए हैं और विज्ञान का अत्यधिक अनुकरण करने लगे हैं। परन्तु आज विश्व भर में योग की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, चाहे वह शारीरिक क्षेत्र में हो, सामाजिक हो या पर्यावरण की ही न हो? सर्वत्र समभाव बनाए रखने में योग मुख्य भूमिका निभा सकता हैं।

यद्यपि आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति के लिए इसकी परमावश्यकता तो है ही, परन्तु इन्हीं के साथ भ्रष्ट सामाजिक रूप को सुधारने में भी इसकी उतनी ही उपादेयता है, जितनी कि देह की स्थिरता में प्राणों की आवश्यकता रहती है।

योग अहिंसा का प्रसार करते हुए कहता है कि समाज में सर्वत्र अहिंसामय वातावरण

रहना चाहिए और सभी प्राणी एक समान हैं और अहिंसा देश, काल, रूप, रंग, वर्ण, भाषा, धर्मादि की अवपेक्षा से सब पर एक जैसी लागू होती है। जिस समाज के अन्दर अहिंसा की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, वहाँ कोई किसी का वैरी नहीं होता।[1] सर्वत्र दैहिक, दैविक एवं भौतिक शान्ति रहती हैं। इसका समर्थन दुर्गासप्तशती भी करती हुई उपदेश देती है – जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है वह सब में बराबर है चाहे वो – "जानवर है या मनुष्य" यदि अन्तर है तो केवल इतना कि मनुष्य ज्ञान बोध रखता है सद् असद् रखता है जिससे वह अपने पूर्व जन्म के कर्मों को दग्ध कर विमुक्त हो जाता है।[2]

योग के अनुसरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यक्ति, समाज एवं विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है। अतः सभी व्यक्तियों को मन, वाणी एवं कर्म से योग के नियमों का पालन करना चाहिए। जब विश्व के सभी प्राणी इन अहिंसादि धर्मों का पालन करने लगेंगे, तो न ही कोई पराया लगेगा और न ही भ्रष्टाचार ही उत्पन्न हो पाएगा। जिससे सर्वत्र प्रेम एवं सौहार्द का वातावरण बनेगा और धनी एवं निर्धनता की जो खाईयां हैं, वह भी दूर होंगी और सामान्य व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे की वेदना को जानते हुए वेदना को दूर कर सकेगा जिससे पृथ्वी पुनः स्वर्ग-धाम बन सकती है।

---

1. अहिंसा प्रतिष्ठायाम् नितत्सन्निधो वैरत्यागः। (पा०यो०द०सा०पा० 35)
2. ज्ञान मस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे।
   विषयश्चमहाभागयति चैवं पृथक् पृथक्। (दु०सप्त०अ० 1 श्लो० 47/48)

आज विज्ञान का युग है और प्राणी भौतिक चकाचौंध में अधिक विश्वास करते हैं, परन्तु यथार्थतः यह है कि कोई व्यक्ति कितना भी धनी क्यों न हो, कैसी भी उच्च पदवी पर विद्यमान क्यों न हो, नेता हो या डाक्टर, इंजीनियर अथवा किसी आश्रम का महन्त ही क्यों न हो वह किसी न किसी प्रकार की चिन्ता अथवा शारीरिक अक्षमता को अनुभव करता हुआ देखा जाता है। इन सब सुख-सुविधाओं के होते हुए भी उसके क्लेश का कारण शरीर का, मन का, स्वस्थ न रहना ही है। आयुर्वेद भी व्यक्ति के स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन के लिए पुष्टि करता है जैसे कि कहावत है – "Sound mind in a sound body". इनका भी यही मानना है कि औषधियों की अपेक्षा योग का आश्रयण करने से शरीर सब प्रकार की बिमारियों से दूर रहता है और इस प्रकार हर्ष से प्रफुल्लित मन से सुखमय जीवन यापन कर सकता है। इसी प्रकार किसान, श्रमिक अथवा कोई भी निर्धन व्यक्ति, बच्चा, बूढ़ा, स्त्री, पुरुष बिना स्वस्थ शरीर के अपने-अपने विविध क्षेत्रों में सफल नहीं हो सकता इसीलिए महापुरुषों ने कहा है कि – शरीर को स्वस्थ रखना ही मनुष्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।[1] इस प्रकार भौतिक दृष्टि से देखने पर भी यहाँ स्पष्ट हो जाना है कि योग शरीर एवं मन को स्वस्थ रखने में अचूक औषधी है।

---

1. महाकवि कालिदास

अध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि आगम एवं निगम परम्परा यह मानती है कि जीव मूलतः ब्रह्म एवं शिवरूप है और अज्ञान के कारण वह अपने परमार्थ स्वरूप को सिंह शावक की तरह स्वरूप भूलकर भेड़ों के झुण्ड में अभाव प्रतीत कर लेता है और इस भवसागर में भटकता रहता है। अज्ञानवश ही अच्छे-बुरे कर्म करके, अच्छी-बुरी योनियों में भटकता रहता है। उसका कल्याण तभी सम्भव है यदि वह अपने आत्मस्वरूप को पहचाने तभी याावल्क्य-स्मृति में ऋषि याज्ञवल्क्य सभी प्राणियों के कल्याण के लिए स्पष्ट शिक्षा देते हैं कि मानव का सबसे परम धर्म यही है कि वह योग के माध्यम से आत्मस्वरूप या परमात्म-स्वरूप का अनुभव करे।[1]

योग के अनुसरण से अध्यात्म-लाभ तो होता ही है, मानसिक शान्ति एवं बलवीर्य तेजयुक्त सुन्दर अङ्गयष्टि का निर्माण होने से जीवन आनन्दमय हो जाता है।

आनन्दमय जीवन वाला ही निरोग व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र के लिए परम हितकारी हो सकता है। मानसिक रूप से असन्तुलित व्यक्ति ही कुविचार, कुकर्म, भ्रष्टाचार, आतंकवाद आदि हीन भावनाओं से युक्त होते हैं। अतएव स्वच्छ समाज एवं राष्ट्र के लिए स्वच्छ चित्त वाला मनुष्य अभीष्ट है, जो योगयुक्त ही हो सकता है। वही आनन्दयुक्त भी होता है। जैसे पुष्प ही सुगन्ध देता है, काँटे नहीं; उसी प्रकार आनन्दी योगी ही आनन्द दे सकता है। परमात्मा भी आनन्दरूप है।[2]

---

1. अयमेव परमो धर्मः यत् योगेन आत्मदर्शनम्। (य०स्०)
2. रसो वै सः। रस ह्येव लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। (तै० उप० 2.7)

ग्रन्थ-सूची

क्रं.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अथर्ववेद	निगम	वैदिक पुस्तकाल अजमेर	2019 सं.
2.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास	चौखम्बा अमर भारती, वाराणसी	1966
3.	अमनस्क योग	गोरखनाथ	सिद्धसाहित्य प्रकाशन मण्डल पूना	1950
4.	अमरकोष	अमरसिंह	चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ वाराणसी	1970
5.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा	उत्पलदेव	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1921
6.	ईशावास्योपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर (यू.पी.)	2051 सं.
7.	ऋक्सूक्तसंग्रह	निगम	साहित्य भण्डार मेरठ	2000
8.	ऋग्वेद	निगम	वैदिक पुस्तकालय अजमेर	2019 सं.
9.	ऐतरेयोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949
10.	कठोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949
11.	कल्याण	हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रेस गोरखपुर	1918
12.	केनोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1918
13.	चरकसंहिता	चरक	चौखम्बा संस्कृत सीरिज़	1994
14.	छान्दोग्योपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949
15.	तैत्तिरीयोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949
16.	त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस गोरखपुर	1949

क्रं.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
17.	तन्त्रालोक	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1938
18.	तन्त्रसार	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1963
19.	दक्षस्मृति	सं. पं. श्रीरामाचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली	1969
20.	दुर्गासप्तशती	सं. हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रेस, गोरखपुर	1969
21.	नृसिंहोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
22.	परमार्थसार	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1931
23.	परात्रिंशिका विवरण	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावेली श्रीनगर	1918
24.	परा प्रावेशिका	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1958
25.	पातञ्जल योग सूत्र	नन्दलाल दशोरा	रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार	1999
26.	पातञ्जल योगदर्शन	पतञ्जलि	चौखम्बा संसकृत संस्थान वाराणसी	1994
27.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	क्षेमराज	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली	1978
28.	प्रश्नोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
29.	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
30.	ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	शङ्कराचार्य	मोतीलाल बनारसी दास पटना	—
31.	बृहदारण्यकोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949

क्रं.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
32.	भगवद् गीता	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1995
33.	भागवद् महापुराण	महर्षिव्यास	गीता प्रेस, गोरखपुर	1995
34.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा ओरियन्टरलिया	–
35.	मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्	आगम	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1921
36.	मालिनीविजयवार्तिकम्	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1921
37.	रघुवंशम्	कालिदास	निर्णसागर प्रेस बम्बई	–
38.	वाजसनेयी संहिता	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	–
39.	वेदान्तसार	सदानन्द	चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी	–
40.	विज्ञानवैरभविवृत्ति	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1918
41.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
42.	श्वेताश्वतरोपनिषद् टीका	डॉ. तुलसी राम शर्मा	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली	–
43.	शतपथ ब्राह्मण	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
44.	शारदा तिलक	लक्ष्मणेन्द्र	चौखम्बा ओरियन्टलिया	1947
45.	शिवदृष्टि वृत्ति	उत्पलदेव	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1934
46.	शिवस्तोत्रावली	उत्पलदेव	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1964
47.	शिवसूत्रविमर्शिनी	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1911

क्रं.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
48.	शंख स्मृति	सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली	1966
49.	स्पन्दकारिका विवृत्ति	श्रीरामकण्ठ	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1918
50.	स्पन्दनिर्णय	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1983
51.	स्वच्छन्दतन्त्र उद्योत	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1947
52.	सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य	विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला वाराणसी	1978
53.	सांख्य कारिका (गौड़पाद-तत्व कौमुदी सहित)	ईश्वरकृष्ण	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली	1974
54.	सौन्दर्यलहरी	श्री शङ्कराचार्य	प्राच्यविद्या संशोधनालय मैसूर विश्वविद्यालय	1940
55.	हारीत स्मृति	सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली	1966

ENGLISH BOOKS

1. Indian Philosophy. DR. S.R KRISHANAN RAJKAMAL PRAKASHAN DELHI -- 1965.
2. Religion and Philosophy of the Veda and the Upnishada. A.B KEETH- MLBD-1969
3. Journal of American Oriental Society Vol. 22.
4. Vaishwavism, Shaivism and Religious Systems. R.G BHANDARKAR — 1956
5. The Thirteen Principle Upnishadas. R. E HUME OXFORD UNIVERSITY PRESS. 1965